भारतीय संस्कृति के विकास में आल्वार संतों तथा अष्टछाप कवियों का योगदान
(विशेष सन्दर्भ : पेरियाल्वार और सूरदास का तुलनात्मक अध्ययन)

हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय, महेंद्रगढ़ की पीएच.डी.(हिंदी) की उपाधि हेतु

प्रस्तुत शोध-प्रबंध

शोध-निर्देशक:
डॉ. अरविन्द सिंह तेजावत

शोधार्थी:
मनीषा
अनुक्रमांक: 1354

हिंदी एवं भारतीय भाषा विभाग
भाषा, भाषाविज्ञान, संस्कृति एवं विरासत संस्थान
हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय, महेंद्रगढ़-123029

पंजीयन संख्या - CUH/20/2011

वर्ष - 2016

घोषणा पत्र

मैं, मनीषा यह घोषणा करती हूँ कि डॉ. अरविंद सिंह तेजावत के शोध निर्देशन में ''**भारतीय संस्कृति के विकास में आल्वार संतों तथा अष्टछाप कवियों का योगदान (विशेष संदर्भ : पेरियाल्वार और सूरदास का तुलनात्मक अध्ययन)**'' विषय पर पीएच.डी. (हिंदी) की उपाधि प्राप्ति के लिए शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर रही हूँ। मेरा शोध कार्य पूर्णतः मौलिक है और यह अन्यत्र अप्रकाशित है। यह पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से किसी भी संस्था अथवा विश्वविद्यालय में किसी भी उपाधि के लिए प्रस्तुत नहीं किया गया है। इस शोध प्रबंध के लेखन में प्रयुक्त संदर्भ पुस्तकों का यथास्थान उल्लेख कर दिया गया है।

शोधार्थीः

मनीषा

अनुक्रमांक– 1354

हिंदी एवं भारतीय भाषा विभाग

हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय

जांट–पाली, महेंद्रगढ़

प्रमाण – पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि मनीषा ने मेरे निर्देशन में पीएच.डी. (हिंदी) उपाधि हेतु **''भारतीय संस्कृति के विकास में आल्वार संतों तथा अष्टछाप कवियों का योगदान (विशेष संदर्भ : पेरियाल्वार और सूरदास का तुलनात्मक अध्ययन)''** शीर्षक पर शोधकार्य किया है। यह शोध कार्य इनके मौलिक प्रयास का प्रतिफलन है।

मैं शोध प्रबन्ध की मौलिकता और प्रतिपादित तथ्यों की उपयोगिता को दृष्टिगत कर इसे मूल्यांकन हेतु प्रस्तुत करने की संस्तुति करता हूँ।

शोध निर्देशकः

डॉ. अरविन्द सिंह तेजावत

सहायक प्रोफेसर

हिंदी एवं भारतीय भाषा विभाग

भाषा, भाषाविज्ञान, संस्कृति एवं विरासत संस्थान

हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय

जांट–पाली, महेंद्रगढ़

भूमिका

कोई भी दार्शनिक चिंतन वहाँ की सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप ही पनपता है। प्रस्तुत शोध प्रबंध इसी दिशा में दक्षिण भारत से उत्तर भारत तक दार्शनिक एवं सांस्कृतिक विकास को देखने का सीमित प्रयास है। हिंदुओं की विशेषता रही है कि उसमें सगुण उपासना प्रमुख रही है। दक्षिण में मंदिर का न मिलना और कविता मिलना, जबकि ये ही कहते हैं कि बिना आलम्बन के कुछ भी सम्भव नहीं हैं। आलम्बन नहीं हैं, मूर्तियाँ नहीं हैं, सगुण उपासना का स्रोत नहीं है, लेकिन कविता पाई जाती है। ऐसा क्या घटित हुआ? प्रस्तुत शोध प्रबंध में इसे ढूँढ़ने का प्रयत्न किया गया है।

शंकराचार्य अद्वैतदर्शन का प्रतिपादन करते हैं और अद्वैत का सीधा प्रभाव शैव दर्शन पर है, यह उसी से विकसित होता है। लेकिन, दक्षिण भारत में वैष्णव भक्ति अत्यधिक प्रभावशाली होती है और अद्वैत तो बिल्कुल नहीं है। अगर हम मूर्ति के रूप में मानते हैं और रूप की कल्पना करते हैं तो सीधे–सीधे द्वैत है। क्या विशेषता है द्वैत में? द्वैतमत कैसे प्रभावित हो जाता है? वह भी दक्षिण भारत में जहाँ शंकराचार्य का सर्वाधिक प्रभाव है। यह जानने का प्रयत्न किया गया है।

जो हमारे देवता है, जोकि मनुष्य के रूप में पहली बार अवतरित हुए हैं। संस्कृत की कविता या तमिल की जो पुरानी कविता है, उसमें मनुष्य के रूप में देवता की कल्पना नहीं है, उनका विशेष दर्जा (महत्व) रहा है। आल्वार के यहाँ सर्वप्रथम उसे मनुष्य रूप में ढ़ालने की कोशिश होती है और उसी रूप में जिसमें जनता बातचीत करती है। देवता से गाय नहीं चरवा सकते, मक्खन चोरी नहीं करवा सकते, संस्कृत में इसका उदाहरण नहीं है। यह लोकभाषा और लोकव्यवहार में ही सम्भव है। उसका कैसे विकास होता है? उत्तर और दक्षिण दोनों जगह की जनता की संवेदनाएँ समान है? दोनों जगह दार्शनिक समानता है? दक्षिण में तथा उत्तर में दार्शनिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण कैसे विकसित होता है? इन बातों को जानने का

प्रयत्न किया गया है। बिना दर्शन के कविता सम्भव नहीं है। कविता पहले अपनी ज़मीन वैचारिक रूप से तैयार करती है। विकसित ज़मीन जब तैयार हो जाती है तब वह भावों के रूप में अभिव्यक्त होती है। ऐसा नहीं है, कि कविता केवल भावना हैं। भक्ति काल की कविता का एक बहुत बड़ा दार्शनिक पक्ष रहा है।

अष्टछाप के हरेक कवि की वही परिपाटी रही है। जो वल्लभाचार्य की है। जो आल्वारों की परम्परा है, वहीं परम्परा हिंदी के कवियों की नहीं है। दार्शनिक विवेचन भी उसी तरह के नहीं हैं। जो जीव, आत्मा और ईश्वर का संबंध आया है। उस संबंध को मजेदार तरीके से दर्शनों में व्यक्त किया गया है। पहले के दर्शनों में ईश्वर और आत्मा एक थे। आत्मा ही ईश्वर का प्रतिबिंबन करती थी या ईश्वर ही आत्मा का प्रतिबिंबन करता था। यह समझने का प्रयत्न हुआ है कि ऐसा क्या हुआ? कि भक्तिकाल के कवियों ने ईश्वर को धरती पर उतार दिया। वह (ईश्वर) एकदम साक्षात् हो गया और जो मनुष्य नाम का प्राणी था, वे ईश्वर के क्रियाकलापों का विवेचन करने लगा। जो मनुष्य उसे परलौकिक मानता था, उसने उसका एक रूप गढ़ दिया और उसके मनोविकारों का विश्लेषण करने लगा।

यह गंभीर बात है कि पहले की दर्शनधाराओं में ईश्वर हमारे भीतर है, को खोजने की कोशिश की जाती थी। भक्तिकाल के कवियों ने ईश्वर के अंदर मनुष्य खोजने की कोशिश की। प्रत्येक कवि के अंदर मनुष्य रूपी ईश्वर की छाया–प्रतिच्छाया बिल्कुल अलग मिलती है। अष्टछापियों की भक्ति, चैतन्य–गौरांग की भक्ति और मीरा की कृष्ण भक्ति में फर्क नहीं है, एक ही कृष्ण है किंतु उनकी भक्ति के कितने रूप हैं, मानो जैसे एक सुंदर बालक के रूप अलग–अलग कवियों द्वारा अपने मन में गढ़ना। बालक सुंदर तो है, पर किस तरह का सुंदर है? ऐसा नहीं है, कि सुंदर है तो अपना लेंगे। सुंदरता के साथ उनकी एक आकृति गढ़ने लगते हैं और उस बालक के चार कवियों द्वारा चार रूप बना लिए जाते हैं। उसी तरह से चारों रूपों का विवेचन हरेक कवि ने किया है। कृष्ण का जो बालरूप है वो सूर के यहाँ सर्वोत्तम है या रसखान के फुटकल पदों में, तलाश लेना मुश्किल काम है। एक कृष्ण की अलग–अलग कवि के मन में उत्पन्न हुई छवियाँ हैं जबकि वास्तविक कृष्ण को किसी ने नहीं देखा। कृष्ण की कल्पना से उनका सांझा हुआ है।

दक्षिण भारत में शिव सर्वमान्य रूप से विद्यमान थे और कृष्ण की छवि को उत्तर भारत में अधिक मान्यता प्राप्त है। छठी से नवीं शताब्दी में आल्वारों द्वारा वैष्णव भक्ति का ऐसा प्रचार हुआ कि जनमानस में राम–कृष्ण की छवि विद्यमान हो गई। कृष्ण छवि का अद्‌भुत वर्णन पेरियाल्वार और सूरदास के पदों में मिलता है। कृष्ण का दार्शनिक विकास जितना पेरियाल्वार ने किया है उतना सूरदास ने नहीं। पेरियाल्वार के बालकृष्ण जग का कल्याण करते हैं। आल्वार के यहाँ कृष्ण के मंगल की कामना की गई है। यह घटना छठी से नवीं शताब्दी की है, जब भक्तिकाल देवता को मनुष्य बनाने में लगा हुआ था। दक्षिण भारत में सर्वाधिक मंदिरों का निर्माण भगवान की रक्षा करने की भावना से हुआ है।

सभ्यता को बदलने में समय लगता है। संस्कृति यूं ही बदल जाती है। संस्कृति स्थिर नहीं है। वैष्णव भक्ति एक संस्कृति है। विष्णु के अवतारों की बात करते हैं, तो उनके अनेक अवतार हैं और उसके अनुसार जीवन है। संस्कृति आचरण का प्रश्न है, कि आचरण कैसा है? कृष्ण भक्ति है, वह कैसे–कैसे बदलती रही है। एक ही समय में कैसे अलग–अलग संस्कृतियाँ निवास करती है। जो लोकमत है, जनता का जो विचार है, किसको उन्होंने आग्रहपूर्वक स्वीकार किया, यह महत्वपूर्ण बात है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध को अध्ययन की दृष्टि से पाँच भागों में विभक्त किया गया है।

प्रथम अध्याय में भारतीय संस्कृति एवं दर्शन का विवेचन किया गया है। भारतीय संस्कृति एवं दर्शन के स्वरूप का वर्णन करने का प्रयास किया है। आर्य–अनार्य विवाद में कैसे आर्यों के देवता अनार्यों के देवता मान लिये जाते हैं? आर्य–द्रविड़ परंपरा के विषय में विचार किया गया है। भारतीय संस्कृति में दर्शन दो विचारधाराओं में विभक्त है– भौतिकवादी और अध्यात्मवादी। दर्शन की दोनों विचारधाराओं का अध्ययन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में भक्ति आंदोलन के स्वरूप और उसके विकास को दिखाया गया है एवं वैष्णव भक्ति आंदोलन के उद्‌भव को विवेचित किया है। भक्ति भारत का जन धर्म है। भक्ति के संदर्भ में वैष्णव संप्रदाय के पांचरात्र मत, आल्वार संतों के भक्ति सिद्धांत प्रपत्ति और अष्टछाप कवियों के पुष्टिमार्ग का विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय में आल्वार संतों का साहित्यिक परिचय दिया गया है। आल्वारों के समय और उनकी भक्ति भावना को विवेचित किया गया है। आल्वारों के नालायिर दिव्य प्रबंधम और श्रीमद्भागवत में समानता–असमानता को दर्शाया है। तत्कालीन वैष्णव भक्ति आंदोलन के उद्गम की पृष्ठभूमि को विवेचित करते हुए वहाँ की परिस्थितियों का विश्लेषण किया गया है।

चतुर्थ अध्याय अष्टछाप कवियों से संबंधित है। जिसमें वार्ताओं और भक्तमालों के अनुसार अष्टछाप कवियों का परिचय दिया गया है। पंद्रहवी–सोलहवीं शती में उत्तर भातर में वैष्णव भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि को तत्कालीन परिस्थितियों के माध्यम से विवेचित किया गया है।

पंचम अध्याय में आल्वार संत पेरियाल्वार और सूरदास का तुलनात्मक अध्ययन है। सूरसागर महाकाव्य है। जिसका विवेचन करना दुःसाध्य कार्य है। आल्वार के पद भी बालकृष्ण लीलाओं की सूक्ष्मता लिए हुए है। अध्याय में विविध पदों के माध्यम से तुलना की गई है। पेरियाल्वार के वैभवशाली बालकृष्ण और सूरदास के मिट्टी में लोटने वाले कृष्ण के बीच अंतर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। दोनों की रामभक्ति एवं मान्यताओं को विवेचित किया गया है।

शोधार्थी के हिंदी भाषी होने के कारण अपनी सीमाएँ हैं। शोध प्रबंध में अनुवाद के लिए शांतिनिकेतन से प्रकाशित पं. श्रीनिवास राघवन कृत दिव्य प्रबन्ध एवं डॉ. पी. जयरामन की वाणी प्रकाशन से प्रकाशित सन्त वाणी नालायिर दिव्य प्रबन्धम्, अनुवाद ग्रंथों से पूरी सहायता ली है।

सर्वप्रथम श्रीकृष्ण वृंदावन बाँकेबिहारी के प्रति मैं अपना अनुराग व्यक्त करती हूँ, जिनके अनुग्रह से ही मानो मुझे कृष्णभक्ति साहित्य में आकर्षण उत्पन्न हुआ।

इस कार्य में शोधार्थी को प्रवृत्त करने का श्रेय डॉ. कमलानंद झा को है। इस शोध कार्य को करते समय मुझे डॉ. कमलानंद झा, डॉ. योगेंद्र शर्मा, प्रो. राम नरेश मिश्र, डॉ. बी.

आर. सैनी, डॉ. अरविंद सिंह तेजावत, डॉ. सिद्धार्थ शंकर राय, डॉ. अमित मनोज, इन गुरुओं का आशीर्वाद प्राप्त हुआ है।

श्रद्धेय गुरु श्री अरविंद सिंह तेजावत की देखरेख एवं निर्देशन में शोध प्रबंध का सारा कार्य संपन्न हुआ। आपके बहुमूल्य परामर्श से इस शोध ग्रंथ को इतना सुव्यवस्थित रूप मिल सका। अत्यंत व्यस्त रहते हुए भी आपने शोध प्रबंध में बहुमूल्य सुझाव दिए हैं। आपके प्रति कोरे शब्दों में आभार प्रकट करके शोधार्थी आपके अपार स्नेह और सहृदयता का मूल्य कम नहीं करना चाहती।

डॉ. सिद्धार्थ शंकर राय (प्रभारी, हिंदी विभाग) सर, आपसे मुझे जितना आधार और तर्कसम्मत परामर्श मिला है, वास्तव में वही मेरे शोधप्रबंध की रीढ़ है। आपके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं है और मैं समझती हूँ कि ऐसा करना मेरी धृष्टता होगी। कृतज्ञता के दो शब्द लिखकर मैं आपके ऋण से उऋण नहीं होना चाहती।

डॉ. अमिन मनोज, मेरे प्रिय सर हैं। आपने बड़े भाई की तरह हमेशा मेरा मनोबल बढ़ाया है। आपसे मिले प्रोत्साहन से ही मैं इस साहसपूर्ण कार्य कहूँ अथवा दुस्साहसपूर्ण कार्य, को सफलतापूर्वक कर पाई हूँ।

वृंदावन शोध संस्थान के अध्यक्ष डॉ. ब्रजभूषण चतुर्वेदी तथा वहाँ के सभी पुस्ताकलय विभाग के कर्मचारियों को धन्यवाद करती हूँ। जिन्होंने वहाँ जाकर अध्ययन करते समय मेरी हर संभव सहायता की।

मैं हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय के प्रति विशेष आभार प्रकट करती हूँ। जिसने मुझे शोध कार्य करने का अवसर और आवश्यक सुविधाएं प्रदान की। विश्वविद्यालय के पुस्तकालय विभाग के समस्त कर्मचारियों का आभार प्रकट करती हूँ। विश्वविद्यालय के शैक्षिक एवं गैर शैक्षिक समस्त अधिकारियों एवं कर्मचारियों का आभार प्रकट करती हूँ। अनेक नाम ऐसे भी हैं, जिनका उल्लेख होना आवश्यक होने पर भी नहीं हो सका है, उनके प्रति भी शोधार्थी विनीत है। जिन विद्वानों की पुस्तकों अथवा लेखों का उद्धरण के लिए इस शोधग्रंथ में उपयोग किया गया है, उन सबके प्रति भी शोधार्थी कृतज्ञता ज्ञापन करती है।

मम्मी–पापाजी, के स्नेह और आशीर्वाद से ये शोध कार्य सम्पन्न हो पाया है। पापाजी, अपनी आँखों से मेरे कुछ दूर होने पर ही व्याकुल हो जाते हैं, उन्होंने मुझे घर से दूर रहकर शोध कार्य करने की अनुमति दी। इसके लिए मैं उनका विशेष आभार प्रकट करती हूँ। छोटी बहन हितेश, भाई जगजीत और उत्तम के सहयोग के बिना यह शोधकार्य संभव न था। फादर बेस्की डी. अल्मीडा के स्नेह और प्रोत्साहन से निरंतर शोध कार्य की दिशा में आगे बढ़ती रही।

इस शोध कार्य को करने में मेरे साथियों का बहुमूल्य योगदान रहा। सबका नाम ले पाना सम्भव नहीं। लेकिन उनमें से कुछ का नाम ना लेना धृष्टता होगी। कृष्णा, रीना, प्रीति, मौ. रहीश, हवा सिंह, रतनलाल, लीलाराम, कविता, मनीषा झा, प्रेमदत्त पाण्डेय, दीपक, मनोज, निर्मल, पारुल, अंजू, सरस्वती, प्रवेश, सुनील, विनेश के विशेष सहयोग के लिए धन्यवाद देकर उन्हें मुक्त नहीं करना चाहती।

मैंने ईश्वर पर भार रख कर यथाज्ञान और यथाशक्ति यह शोध कार्य किया है। त्रुटियों की संभावना होगी ही। विद्वजन महानुभावों से प्रार्थना है कि कृपया दोषों की उपेक्षा करें। शोध प्रबंध में जो दोष हैं, वे मेरी अनुभवशून्यता और अनभिज्ञता के कारण हैं।

मनीषा

दिनांक :

हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय

महेंद्रगढ़

विषयानुक्रमणिका

- घोषणा पत्र
- प्रमाण पत्र
- भूमिका

प्रथम अध्याय : भारतीय संस्कृति एवं दर्शन

1.1 भारतीय संस्कृति : परिभाषा एवं स्वरूप

1.2 भारतीय संस्कृति : आर्य–आर्येत्तर संबंध

1.3 भारतीय दर्शन : स्वरूप

1.3.1 भौतिकवादी दर्शन

1.3.1.1 लोकायत दर्शन

1.3.1.2 बौद्ध दर्शन

1.3.1.3 जैन दर्शन

1.3.2 अध्यात्मवादी दर्शन

1.3.2.1 सांख्य दर्शन

1.3.2.2 योग दर्शन

1.3.2.3 न्याय दर्शन

1.3.2.4 वैशेषिक दर्शन

1.3.2.5 मीमांसा दर्शन

1.3.2.6 वेदांत दर्शन

1.3.2.6.1 अद्वैतवाद

1.3.2.6.2 विशिष्टाद्वैत

1.3.2.6.3 द्वैतवाद

1.3.2.6.4 द्वैताद्वैत

1.3.2.6.5 शुद्धाद्वैत

द्वितीय अध्याय : भक्ति आंदोलन

2.1 भक्ति का स्वरूप

2.2 भक्ति आंदोलन का विकास

जैन एवं बौद्ध धर्म पर ब्राह्मणवाद का प्रभाव

बौद्ध धर्म का क्षय

भक्ति का निर्गुण एवं सगुण स्वरूप

भक्ति आंदोलन के उद्‌भव विषयक मत

2.3 वैष्णव भक्ति : उद्‌भव और विकास

2.4 वैष्णव संप्रदाय : पांचरात्र मत

2.5 आल्वार संतों का प्रपत्ति सिद्धांत

2.6 अष्टछाप कवियों का पुष्टिमार्ग

तृतीय अध्याय – आल्वार संत : पर्यालोचन

3.1 आल्वार भक्ति का स्वरूप एवं समय

3.2 आल्वार संतों का साहित्यिक परिचय

पोयगै आल्वार, भूत्ततू आल्वार, पेयाल्वार, तिरुमलिशै आल्वर, नम्माल्वार, मधुर कवि आल्वार, कुलशेखर आल्वार, पेरियाल्वार, आण्डाल, तोण्डरअडिप्पोडि आल्वार, तिरुप्पाण आल्वार, तिरुमंगै आल्वार

3.3 आल्वार संतों का नालायिर दिव्य प्रबंधम्

3.4 श्रीमद्भागवत और नालायिर दिव्य प्रबंधम्

3.5 आल्वार संतों के काव्य का दार्शनिक आधार– ब्रह्म, जीव, जगत, माया, मोक्ष

3.6 दक्षिण भारत में वैष्णव भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि

3.6.1 दक्षिण भारत की राजनीतिक परिस्थितियाँ

3.6.2 दक्षिण भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ

3.6.3 दक्षिण भारत की आर्थिक परिस्थितियाँ

3.6.4 दक्षिण भारत की धार्मिक परिस्थितियाँ

3.6.5 दक्षिण भारत की कलागत एवं साहित्यिक परिस्थितियाँ

चतुर्थ अध्याय – अष्टछाप कवि : पर्यालोचन

4.1 अष्टछाप भक्ति का स्वरूप एवं समय

4.2 अष्टछाप कवियों का परिचय : वार्ताओं एवं भक्तमालों के अनुसार

सूरदास, परमानंददास, कुंभनदास, कृष्णदास, नंददास, छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, चतुर्भजदास

4.3 अष्टछाप कवि के काव्य का दार्शनिक आधार– ब्रह्म, जीव, जगत, माया, मोक्ष

4.4 उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि

4.4.1 उत्तर भारत की राजनीतिक परिस्थितियाँ

4.4.2 उत्तर भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ

4.4.3 उत्तर भारत की आर्थिक परिस्थितियाँ

4.4.4 उत्तर भारत की धार्मिक परिस्थितियाँ

4.4.5 उत्तर भारत की कलागत एवं साहित्यिक परिस्थितियाँ

पंचम अध्याय : आल्वार संत पेरियाल्वार और अष्टछाप के कवि सूरदास का तुलनात्मक अध्ययन

5.1 आल्वार संत पेरियाल्वार के 'प्रबंधम्' एवं सूरदास के 'सूरसागर' का विवेचन

5.2 पेरियाल्वार एवं सूरदास के आराध्य का तुलनात्मक अध्ययन

5.2.1 आराध्य के प्रति विनीत भावना के पद

5.2.2 श्रीकृष्ण जन्मोत्सव के पद

5.2.3 लोरी गीत की अवस्था के पद

5.2.4 चंद्रदर्शन के पद

5.2.5 प्रेम का संयोग एवं वियोग पक्ष

5.2.6 गोपियों की उलाहना के पद

5.2.7 गोचारण के पद

5.3 पेरियाल्वार और सूरदास की रामभक्ति

5.4 संत पेरियाल्वार की सांस्कृतिक मान्यताएं

5.5 अष्टछाप कवि सूरदास की सांस्कृतिक मान्यताएं

5.6 पेरियाल्वार एवं सूरदास की काव्य शैली का तुलनात्मक अध्ययन

- उपसंहार
- पुस्तकानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय : भारतीय संस्कृति एवं दर्शन

1.1 भारतीय संस्कृति : परिभाषा एवं स्वरूप

1.2 भारतीय संस्कृति : आर्य–आर्येत्तर संबंध

1.3 भारतीय दर्शन : स्वरूप

1.3.1 भौतिकवादी दर्शन

1.3.1.1 लोकायत दर्शन

1.3.1.2 बौद्ध दर्शन

1.3.1.3 जैन दर्शन

1.3.2 अध्यात्मवादी दर्शन

1.3.2.1 सांख्य दर्शन

1.3.2.2 योग दर्शन

1.3.2.3 न्याय दर्शन

1.3.2.4 वैशेषिक दर्शन

1.3.2.5 मीमांसा दर्शन

1.3.2.6 वेदांत दर्शन

1.3.2.6.1 अद्वैतवाद

1.3.2.6.2 विशिष्टाद्वैत

1.3.2.6.3 द्वैतवाद

1.3.2.6.4 द्वैताद्वैत

1.3.2.6.5 शुद्धाद्वैत

प्रथम अध्याय :

भारतीय संस्कृति एवं दर्शन

1.1 भारतीय संस्कृति

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अतः उसकी संस्कृति का विकास सामाजिक व सामूहिक रूप से ही होता है। किसी भी देश की संस्कृति उस देश की धरोहर होती है। मानव के व्यवहार को ही संस्कृति कहा जाता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द 'कृ' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय और सम् उपसर्ग जोड़ने से बना है। जिसका अर्थ है– किया गया कार्य, व्यवहार, आचरण आदि अर्थात् मानव जीवन के विकास और परिष्कार को ध्यान में रखकर किए गए क्रिया कलापों का लेखा–जोखा। संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर के अनुसार संस्कृति के अर्थ ''वि. स्त्री. सं. 1. शुद्धि, सफाई 2. संस्कार, सुधार 3. मानसिक विकास, सजावट 4. सभ्यता, शाइस्तगी 5. 24 वर्ण के वृत्तों की संज्ञा।''[1]

विद्वानों ने अपने मतानुसार संस्कृति की व्याख्या की है। सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार ''मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है। उसी को संस्कृति कहते हैं। अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य प्रकृति के साधनों का जिस रूप में प्रयोग करता है, उससे उसकी सभ्यता का निर्माण होता है, पर चिंतन द्वारा अपने जीवन को सरस, सुंदर और कल्याणमय बनाने के लिए मनुष्य जो यत्न करता है। उसका परिणाम संस्कृति के रूप में प्राप्त होता है।''[2] इस प्रकार नवीन सृजनात्मक क्रिया जिसके द्वारा अपना तथा दूसरों का कल्याण हो, संस्कृति कहा गया है। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार, ''संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगीण प्रकार है। विचार और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्र का जो सृजन है, वही उसकी संस्कृति है।''[3] डॉ. राधाकृष्णन संस्कृति के विषय में उल्लेख करते हैं, ''संस्कृति वह ज्योति है जो एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को सौंपती है, जिससे राष्ट्रीय जीवन की परंपरा बनी रहे।''[4] डॉ. राधाकृष्णन संस्कृति को

राष्ट्र से जोड़ते हैं। रामधारी सिंह दिनकर संस्कृति को जिंदगी जीने का एक तरीका बताते हुए कहते हैं, ''यह (संस्कृति) जिंदगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों में जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं।''[5] 'भारतीय धर्म एवं संस्कृति' पुस्तक में रामजी उपाध्याय ने संस्कृति को इस प्रकार परिभाषित किया है, ''मानव स्वभावतः अपनी या प्रकृति की किसी रचना को पूर्ण मानकर संतोष नहीं कर लेता, बल्कि नित्य ही उसे पूर्ण या सुंदर बनाने का प्रयत्न करता रहा है। सुंदर बनाने, सुधारने और पूर्ण बनाने के प्रयत्न मनुष्य की बुद्धि और सौंदर्य की भावना के विकास का परिचय देते हैं। मनुष्य का यही विकास संस्कृति है।''[6] संस्कृति का संबंध संस्कारों से है इसलिए मनुष्य इसे सुंदर बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

संस्कृति की एक सुनिश्चित परिभाषा देना कठिन है। प्राचीन मानव वैज्ञानिक एडवर्ड टाइलर के अनुसार, ''संस्कृति अपने मानव शास्त्रीय अर्थ में उस सन्निकट परिकल्पना को कहते हैं, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, विधि–विधान, रीति–रिवाज और अन्य व्यवहार और सामर्थ्य सम्मिलित हैं, जिन्हें मनुष्य अपने समाज से ग्रहण करता है।''[7] संस्कृति को जीने का ढ़ग बताया गया है, जो समय के साथ–साथ परिवर्तित होता रहता है। जीने का यह ढ़ग अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों से जुड़ा है। अतीत से यह ऊर्जा लेता है, वर्तमान इसे आकार देता है और भविष्य इसे उन प्रेरणाओं से जोड़ता है जो सपने ही नहीं दिखाती, सपनों के पूरा होने का आश्वासन भी देती है। इस प्रकार संस्कृति एक बौद्धिक क्रिया अथवा स्वरूप कही जा सकती है, जिसमें किसी देश, जाति या समाज का आचार–विचार, रहन–सहन, बोली, भाषा, वेशभूषा आदि सभी बातों का समावेश होता है। जिसे एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को सौंपती है। विभिन्न सभ्यताओं का उत्कर्ष एवं अपकर्ष संस्कृति द्वारा ही मापा जाता है। संस्कृति के प्रभाव से ही व्यक्ति को गृहस्थ, राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, कलात्मक एवं धार्मिक ऐसे समस्त कार्यों को करने की प्रेरणा प्राप्त होती है, जो व्यक्तिगत एवं सामूहिक विकास के लिए आवश्यक है। संस्कृति को साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान, सामाजिक, नैतिक एवं धार्मिक विश्वास किसी भी रूप में देखा जा सकता है।

भारतीय संस्कृति का स्वरूप

संस्कृति एक व्यापक शब्द है। यह मानव समूह के रीति रिवाजों व परंपराओं से निर्मित होती है। किसी भी संस्कृति का स्वरूप वहाँ की प्राकृतिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक परिस्थितियों एवं वहाँ के विद्वजनों तथा महापुरुषों की देन होता है। आज भारतीय संस्कृति जिस रूप में दिखाई दे रही है। वह आर्य एवं आर्येत्तर जातियों के सम्मिश्रण का फल है। डॉ. मंगलदेव शास्त्री पुस्तक 'भारतीय संस्कृति का विकास' में भारतीय संस्कृति के विषय में देश के विचारकों की तीन दृष्टि की चर्चा करते हुए पहली दृष्टि के विषय में कहते हैं, ''इस विषय में अत्यंत संकीर्ण दृष्टि उन लोगों की है, जो परंपरागत अपने–अपने धर्म या संप्रदाय को ही भारतीय संस्कृति कहते हैं, दूसरी दृष्टि उन लोगों की है, जो भारतीय संस्कृति को, भारतार्न्तगत समस्त सम्प्रदायों में व्यापक न मानकर, कुछ विशिष्ट सम्प्रदायों से ही सम्बद्ध मानते हैं..... तीसरी दृष्टि उन लोगों की है जो भारतीय संस्कृति को देश के किसी विशिष्ट एक या अनेक सम्प्रदायों से सीमित या बद्ध न मानकर, समस्त सम्प्रदायों में एकसूत्र रूप से व्यापक अतएव सबके अभिमान की वस्तु, काफी लचीली और सहस्र वर्षों से भारतीय परंपरा से प्राप्त संकीर्ण सांप्रदायिक भावनाओं और विषमताओं के विष को दूर करके राष्ट्र में एकात्मकता की भावना को फैलाने का साधन समझते हैं।''[8] इस प्रकार इन तीनों दृष्टियों में डॉ. मंगलदेव शास्त्री तीसरी दृष्टि को अनेक विषम समस्याओं का एकमात्र साधन मानते हैं। भारतीय संस्कृति का मूल उसकी बौद्धिक क्षमता है। इस वजह से इसका व्यवहार एक जीवंत व्यवस्था की भांति रहा है। समय–समय पर इसने आत्मचिंतन के माध्यम से स्वयं को परिष्कृत किया है। राष्ट्र का संवर्द्धन, पोषण एवं संरक्षण का दायित्व प्रत्येक नागरिक का होता है। भारतीय संस्कृति में समन्वय की भावना प्रबल है। भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता रही है कि उसने विविध सभ्यताओं, जातियों और संस्कृतियों को आत्मसात कर लिया। यह सभ्यताएँ जल–थल की सीमा को लांघ कर भारत आई किंतु प्रारंभिक टकराव के बाद भारतीय संस्कृति में घुल–मिल गई। डॉ. विश्म्भरनाथ पाण्डे के अनुसार, ''भारत की यह सांस्कृतिक समग्ररूपता ही इस देश की वास्तविक और अमर आत्मा है। अपने दीर्घकालीन इतिहास के अलग–अलग युग में परस्पर विरोधी तरीकों से, यह आत्मा अपने को प्रगट करती रही है।''[9] भारतवर्ष में

प्रत्येक भारतीय को अपनी श्रद्धा के अनुसार धर्म को अपनाने, अपने रीतिरिवाजों को मनाने एवं विचारों को प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता है। इसमें द्वैतवाद भी है और अद्वैतवाद भी। यहाँ साकार–निराकार दोनों की उपासना की जाती है। भारतीय संस्कृति में अध्यात्म, दया, ममता, उदारता, समन्वय, लचीलापन, ग्रहणशीलता, धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण, विविधता में एकता आदि गुण विद्यमान है।

संस्कृति और संस्कार परस्पर संबंधित हैं। व्यक्ति का संस्कार, उसकी संस्कृति को दर्शाता है। किसी व्यक्ति के आचार–विचार और व्यवहार से ही अन्य देशों में उसके देश की संस्कृति विषयक पहचान होती है इसलिए व्यक्ति में संस्कारों का विशेष स्थान होता है, उसका आचरण उसकी संस्कृति को दर्शाता है। किंतु संस्कृति हमेशा परिवर्तनशील होती है। ये संस्कार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होते हैं, और धीरे–धीरे इनके स्वरूप में परिवर्तन आ जाता है। ऐसा विभिन्न कारणों के परिणामस्वरूप होता है। इस विषय में डॉ. सच्चिदानंद सिन्हा कहते हैं, ''ऐसे परिवर्तन अगर संस्कृति के समन्वित संसार के विपरीत नहीं हों तो परंपरा के भीतर अंगीकार हो जाते हैं। लेकिन अगर ये बाकी तत्त्वों के संस्कार से बिल्कुल विपरीत हों तो या दूसरे तत्त्व भी प्रभावित हो अपने को बदलेंगे या इन्हें परंपरा से बाहर कर दिया जाएगा। अगर बदलाव के पीछे कोई शक्तिशाली और विजातीय प्रभाव हो तो पूरी संस्कृति भी नष्ट हो सकती है क्योंकि इसका अपने परिवेश से मेल नहीं बैठ पाएगा।''[10] कहने का तात्पर्य है कि संस्कृति निरंतर परिवर्तनशील है। किसी संस्कृति में यदि नए संस्कारों का समावेश हो रहा है तथा वहां के लोग बिना किसी आपत्ति के नई संस्कृति को ग्रहण कर रहे हैं, तो नई संस्कृति मूल संस्कृति में बदलाव ला देती है तथा नई संस्कृति यदि शक्तिशाली है और अपना प्रभुत्त्व कायम कराने में सफल हो जाती है, तो वह मूल संस्कृति को नष्ट भी कर सकती है। किंतु यदि नई संस्कृति मूल संस्कृति में घुल–मिल नहीं पाती तथा लोकमानस उसे अंगीकार नहीं करता, तो उसे नहीं अपनाया जाता।

हमारा सांस्कृतिक संकट विविध प्रकार का है। भले ही हमारी संस्कृति में विशेष गुण हैं, जो अन्य देशों की संस्कृति से हमें अलग करती है। फिर भी अपवादस्वरूप कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं या कटुसत्य हैं, जिन्हें स्वीकार करना पड़ता है। भारतवर्ष के साम्प्रदायिक

नेताओं की संकीर्णता या स्वार्थ की दृष्टि बहुत कुछ यहाँ के आदर्शों के विपरीत है। जिनके कारण विविध सम्प्रदाय, धर्मों और जातियों में भयंकर रक्तपात हो जाता है। धर्म के नाम पर साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्दिता, पृथकता की भावना, भेदभाव की भावना, निम्न जातियों के साथ भेदभाव, दुराचरण आदि वर्तमान में विष की तरह व्याप्त है। सबसे बड़ी समस्या पश्चिमी संस्कृति का अंधानुकरण है। देश का युवा वर्ग ही नहीं बच्चे एवं बुजुर्ग भी पश्चिमी संस्कृति को अपनाकर गर्व का अनुभव करते हैं। डॉ. देवराज ने भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य प्रभाव को देखते हुए कहा है, ''पिछले ढ़ाई–तीन दशकों से अपने देश के दार्शनिक शोधकर्ता एवं शिक्षक क्रमशः पश्चिम की विचारधाराओं के प्रति आकर्षित होते गए हैं और उसी अनुपात में भारतीय दर्शन और संस्कृति के प्रति विरक्त या उदासीन।''[11] यह बड़ी विड़म्बना की बात है कि भारतीय दार्शनिक एवं शिक्षक पश्चिमी संस्कृति से विशेष प्रभावित हो रहे हैं। विदेशी संस्कृतियों के सतत प्रभाव में अपनी संस्कृति विलुप्त होती जा रही है।

भारतीय संस्कृति के स्वरूप में बहुत परिवर्तन आ चुका है। विविध संस्कृतियों के मेल से यहाँ की संस्कृति अत्यधिक प्रभावित हुई है, जिसके कारण इसमें विकृतियों का भी समावेश हो गया है। एक ओर हमारी बड़ी व्यावहारिक समस्या उस चुनौती से निपटना है, जो कट्टरवादी शक्तियों ने हमारी बहुलतानिष्ठ संस्कृति के सामने उपस्थित की है। हमें इस प्रलोभन से बचना है।

भारत में शूद्र कहलानेवाली भारतीय जाति के प्रति हमारी कठोर दृष्टि और व्यवहार में सामाजिक परिस्थितियों और संत–महात्माओं के आंदोलनों के कारण शनैः–शनैः होने वाला विकासोन्मुख परिवर्तन भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता का एक उज्ज्वल उदाहरण है। राजमल बोरा संस्कृति की निरंतरता को जीवित रखने में भक्ति साहित्य का महत्त्व बताते हुए कहते हैं, ''किसी देश की संस्कृति में निरंतरता यदि वर्तमान में भी रहती है और वह मिटती नहीं है, तो उसे पहचानने की आवश्यकता है। उसके रूप भले ही बदल जाए किंतु उसमें निहित अमूर्त भावना उस निरंतरता को जीवित रखती है। अतीत और वर्तमान संस्कृति के बल पर ही जुड़े रहते हैं। इसी को हमारे यहाँ सनातनता कहा गया है। भारत का अतीत यदि वर्तमान में सनातन रूप में समकालीन बना हुआ है। तो उसे भारतीय संस्कृति का

प्रधान लक्ष्य मानना चाहिए। अनादि, अनंत के प्रति भारतीय जनजीवन में जो प्रतिबद्धता पाई जाती है, उसको जीवित रखने में भक्ति साहित्य ने बहुत सहायता की है।''[12]

वर्तमान में नारी एवं दलित विमर्श प्रमुख चर्चा का विषय बना हुआ है। विद्वान आलोचक अपने–अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं तथा यथासाध्य उन्हें सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के अभिलाषी उसकी कठोर आलोचना करते हैं। किंतु यह कार्य भक्तियुग में आरंभ हो चुका था जब बौद्ध, जैन, शाक्त तथा वैष्णवों ने नारी तथा दलितों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। तत्कालीन समय में इनके पक्ष को उठाया और उन्हें ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया।

1.2 आर्य–आर्येत्तर संबंध

भारत के सांस्कृतिक विकास पर दृष्टि ड़ाली जाए तो यह स्पष्ट होता है कि यह विकास एक स्तर पर नहीं अपितु अनेक स्तर पर आगे बढ़ा है। एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक यह परिवर्तित होता रहा है। वैसे ही जैसे उत्तर और दक्षिण भारत में, पश्चिम और पूर्व में आर्य–द्रविड़ प्रतिरूप में बदलाव आया। 'संस्कृति के चार अध्याय' पुस्तक में रामधारी सिंह दिनकर प्रकाश डालते हैं, ''हिंदू संस्कृति का अविर्भाव आर्य और आर्येत्तर संस्कृतियों के मिश्रण से हुआ तथा जिसे हम वैदिक संस्कृति कहते हैं।''[13] आर्य–अनार्य संबंध के प्रश्नों को विभिन्न भारतीय एवं पश्चिमी विद्वानों ने उठाया तथा उन पर गंभीरता से विचार किया। प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर के शब्दों में घटनाओं का ऐतिहासिक क्रम कुछ इस प्रकार से प्रतीत होता है, ''सिंधु घाटी सभ्यता ह्रास ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी में हुआ और जब आर्यों ने भारत के उत्तर–पश्चिम में प्रवेश किया तब (1500 ई० पू०) तक वह लगभग पूरी तरह विघटित हो चुकी थी। आर्य या इंड़ो आर्य जोकि इंड़ो यूरोपियों के वंशज थे – कुछ समय तक बैक्ट्रिया में और उत्तरी ईरानी पठार पर रहे, परंतु 1500 ई० पू० के आसपास तक वे हिंदूकुश के दर्रों से होकर उत्तरी भारत में प्रविष्ट हुए।'[14] ऐसे विद्वानों में डॉ. मोतीचंद भी हैं, जो आर्यों के विषय में

टिप्पणी करते हैं, ''आर्यों का आदि स्थान कहाँ था इस प्रश्न पर तो काफी बहस रही है लेकिन इतना तो निश्चित जान पड़ता है कि आर्य भारतवर्ष में और पश्चिम एशिया में एक साथ प्रविष्ट हुए और ईरानी और भारतीय आर्य करीब 2500 ई० पू० में अलग हुए। भारतीय आर्यों ने इस देश में 2000 ई० पू० और 1400 ई० पू० के बीच अफगानिस्तान और हिंदूकुश के रास्ते से प्रवेश किया और सबसे पहले वे सिंधुघाटी की उपरली घाटी में बसे, बाद में धीरे–धीरे आगे बढ़ते हुए गंगा घाटी में बसे।''[15] भारतीय चिंतक रामधारी सिंह दिनकर आर्य और द्रविड़ या आर्येत्तर विषयों के संबंध में मत देते हैं, कि इस संबंध में कुछ भी कहा जाए उसे अनुमान ही मानना चाहिए, ''यदि दक्षिण भारत का आर्यों से पहले का इतिहास कुछ ज्ञात होता, तो कठिनाई इतनी नहीं रहती। किंतु, जैसा डॉ. नीलकंठ शास्त्री ने लिखा है, ''जैसे उत्तर भारत का इतिहास आर्यों के आगमन के साथ आरम्भ होता है, वैसे ही दक्षिण भारत का इतिहास आर्यों के दक्षिण आगमन के बाद से ही मिलने लगता है।''[16] किसी प्रमाणिक जानकारी के अभाव में आर्य संबंधी विषय केवल अनुमान पर आधारित है।

भारतीय चिंतक के. दामोदरन अपनी पुस्तक 'भारतीय चिंतन परंपरा' में आर्यों को बार–बार आक्रमणकारी आर्य कहकर संबोधित करते हैं, ''ये बर्बर आक्रामक जिन्होंने नगरों को नष्ट किया था अपने को आर्य कहते थे, जिसका अर्थ था कुलीन अथवा उच्चकुलवाले। वे अपने को उन लोगों से उच्च और श्रेष्ठ समझते थे जिनको उन्होंने परास्त किया था x x x x x x मूल निवासियों को आर्य मलेच्छ अथवा दस्यु अथवा दास कहकर पुकारते थे।''[17] 'भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास' पुस्तक में रामविलास शर्मा भारतीय इतिहास के विषय में जानकारी देने वाली एक पुस्तक जो महेंद्रसिंह रंधावा और जान कैनेथ ग्रेलबेथ ने भारतीय चित्रकला पर 'इण्डियन पेंटिग्स, द सीन, थीम्स एण्ड लीज़ेण्ड' नाम से लिखी, जो 1968 में अमेरिकी नगर बोस्टन से प्रकाशित हुई, से आर्य संबंधी विषय में उद्धृत करते हैं, ''प्रथम सहस्राब्दी ईसापूर्व के मध्य में भारत पर घुमंतू आर्य कबीलों ने आक्रमण किया। वे इण्डो यूरोपियन समुदाय की शाखा थे। ये समुदाय यूराल पर्वतमाला के दक्षिणी मैदानों से यूरोप, ईरान और मध्य एशिया पहुँचा। मध्य एशिया से वह अफगानिस्तान और भारत में पहुँचा। ये कबीले विनम्रता से स्वंय को आर्य अथवा श्रेष्ठ 'नोवलवंस' कहते थे।''[18] खानाबदोश घुमंतू कबीलों को विनम्रता वश

आर्य कहना एक मौलिक व्यंग्य माना है। आर्य नस्ल में श्रेष्ठ एवं उच्च हैं। ये आर्य लोग गोरे और ऊँचे कद के थे। नख–शिख दुरुस्त था और नासिकाएँ उभरी हुई थी। इसके बाद आर्यों की व्यंग्यविहीन आलोचना करते हुए लेखक कहते हैं, ''ये लोग बड़बोले और डींग हाँकनेवाले थे। यहाँ की आदिवासी द्रविड़ जनता से वे घृणा करते थे और समझते थे कि इनके साँवले रंग के लिए इन्हें दण्ड मिलना चाहिए। आर्य लोग अपने घोड़ों और हल्के रथों की गतिशीलता के कारण जीत गए। उनके विरोधी भोंड़े हाथी लिए उनका मुकाबला कर रहे थे।''[19] आर्यों के व्यक्तित्व के साथ–साथ उनके चरित्र का भी वर्णन किया है, उन्हें पक्षपाती बताया है।

शरदेंदु अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति के सोपान' में आर्य–अनार्य संबंधी विचारों को प्रकट करते हैं, ''आर्यों को अब उत्तरी भारत के मूल निवासियों से संघर्ष करना था जो अनार्य थे। जिनको आर्य लोग हेय समझते थे। इन अनार्य जाति को पणि और दास कहा गया है। पणि दुखदायी थे क्योंकि वे पशुओं को चुरा ले जाते थे, और पशु ही आर्यों की मुख्य संपत्ति थे। इसके अतिरिक्त पणि विचित्र देवताओं की पूजा करते थे।''[20] आर्यों के आगमन को एक पिछड़ा कदम बताते हुए शरदेंदु कहते हैं, ''हडप्पा संस्कृति आर्यों की संस्कृति से बहुत उन्नत थी। आर्य लोग अब भी नागर सभ्यता से पूर्व की स्थिति में थे। उत्तरी भारत को अब फिर ग्रामीण जीवन से निकलकर नागरिक संस्कृतियों के विकास से गुजरना पड़ा।''[21] के. दामोदरन भी इस बात को स्वीकार करते हैं, ''ऋग्वेद से पता चलता है कि दस्युओं की संस्कृति आर्य संस्कृति से ऊँचे किस्म की थी। दस्युओं के किले बहुत मजबूत बताए गए है। उनके धार्मिक विश्वास अत्यंत उन्नत प्रतीत होते हैं क्योंकि उनके देवता आर्यों के देवताओं के समान मुख्य रूप से प्राकृतिक शक्तियों के ही प्रतिनिधि नहीं थे। वे शिव, देवी माता, लिंग और पवित्र ऋषभ (बैल) की पूजा करते थे।''[22] आर्य–अनार्य लोगों की पूजा पद्धति एवं देवताओं में भिन्नता थी। ''आर्य लोग आर्येत्तर लोगों में प्रचलित लिंग पूजा को प्रायः बड़ी घृणा के साथ उल्लेख करते थे, ''वे जिनका देवता लिंग है हमारे घर में न घुसने पायें।''[23] परंतु धीरे–धीरे आर्यों ने आर्येत्तर संस्कृति को अपनाया। अनेक विद्वानों के मतानुसार जब आक्रमणकारी आर्य भारत में आए तो वह बर्बर अवस्था में थे। उनकी संस्कृति भी उच्च कोटि की नहीं थी, किंतु

सिंधु घाटी सभ्यता के लोग जो भारत के मूल निवासी थे, उन्हें आर्यों ने म्लेच्छ तथा दस्यु कहा। लोहे के शस्त्रों का प्रयोग कर उन्होंने दस्युओं पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित किया।

आर्य–आर्येत्तर संबंधी विषय पर मतभेद सदा बना रहता है, क्योंकि विविध इतिहासकारों एवं चिंतकों के अपने–अपने मत हैं, सभी अनुमान एवं उद्धरणों की सहायता से अपने मत को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। दूसरी ओर, एक अन्य मतानुसार, विभिन्न विद्वान ये भी मानते हैं कि आर्य लोग बाहर से नहीं आए थे, अपितु भारत के मूल निवासी थे। प्रो. अविनाशचन्द्र दास वैज्ञानिक तथा ऋग्वेद के अध्ययन एवं चिंतन के आधार पर मत प्रकट करते हैं, ''आर्य लोग बाहर से नहीं आये थे, वे सप्तसिंधु प्रांत के मूल निवासी थे। आर्यों की सभ्यता एक हजार पाँच सौ वर्ष पुरानी नहीं बल्कि 20 से 25 हजार वर्ष पुरानी है।''[24] 'भारत का इतिहास' पुस्तक में रोमिला थापर भी एक जगह स्वीकार करती हैं, ''आर्यों के आगमन की बात करना त्रुटिपूर्ण है। किंतु प्राचीन भारत के ऐतिहासिक अध्ययनों में यह त्रुटि इतनी अधिक प्रचलित हो चुकी है कि आर्यों को आर्यभाषी लोग कहना अनुचित रूप से पांडित्य का प्रदर्शन होगा।''[25] आचार्य दिनकर भी स्पष्ट करते हैं कि ''ऋग्वेद में ऐसा कण भर भी प्रमाण नहीं है जिससे यह कहा जा सके कि आर्यों ने भारत पर आक्रमण किया अथवा जीता था। किंतु संस्कृत और तमिल के प्राचीन साहित्य से यह बात लक्षित होती है कि संस्कृत भाषी आर्य, आरंभ में विंध्य से उत्तर तक ही सीमित थे। विंध्य के दक्षिण में वे लोग बसते थे जिनकी भाषा संस्कृत नहीं थी।''[26] आर्यों तथा अनार्यों के बीच वर्गविभाजन का रूप मूलतः सामाजिक और आर्थिक था। आर्य शब्द किसी धर्म अथवा जाति का बोधक नहीं है। अमरीकी मनोवैज्ञानिक तथा पुरातत्त्ववेत्ता डॉ. जे. मार्क केनोयर के अनुसार ''समाज के सुसभ्य और सुसंस्कृत लोग आर्य कहे गए और दबे और पिछड़े लोग अनार्य। उस काल में उच्च वर्ग एक–दूसरे को आर्य कहकर ही संबोधित करते थे। उनकी पत्नियाँ भी अपने पतियों को आर्यपुत्र कहकर संबोधित करती थीं।''[27] इस प्रकार आर्य–अनार्य को मात्र संबोधन का शब्द माना है। उच्च वर्ग के लोग आर्य तथा पिछड़े वर्ग के लोग अनार्य कहे जाते थे। इसी प्रकार 'भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व' पुस्तक में सोती वीरेंद्र चंद्र स्पष्ट करते हैं, ''मूल आर्यों की उत्पत्ति स्थान आर्यावर्त्त ही है। आर्यावर्त्त या भारत उनकी मूल भूमि है। आर्यों की तपः एवं आवास स्थली भारत में

सप्तसैन्धव प्रदेश माना जाता है। आर्य भारत में बाहर से आए और आर्य विजेता तथा मूल निवासियों के मध्य युद्ध हुआ। ये सब विदेशी विद्वानों के मस्तिष्क की उपज एवं भ्रम है। इस भ्रांत धारणा को भारतीय इतिहासकार भी स्वीकारने लगे।''[28] कथनानुसार आर्यों का भारत के बाहर से आगमन तथा यहाँ आकर उनका मूल निवासियों से युद्ध एकदम भ्रामक माना है। आर्यों को संपूर्ण भारतीय मानते हुए, उन्होंने जाति विषयक अपने विचारों को प्रकट करते हुए लिखा है, ''इसी प्रकार दस्यु जाति के विषय में भी भ्रांति है दस्यु कोई पृथक जाति नहीं है। दस्यु से अभिप्राय दुर्जन या दुष्कर्म करने वालों से है। 'आर्य' शब्द का अर्थ श्रेष्ठ कर्म वाले पुरुष से है। आर्यों में जो भारतीय आर्य परम्परा से दूर हो गए या अपने दुराचरण के कारण दुर्जन पुरुष घोषित कर दिए गए, उन्हें उनकी वर्ण व्यवस्था से च्युत कर दिया गया। वे ही दस्यु कहलाए। इस प्रकार आर्य–दस्यु का भेद कर्मों के कारण है जाति के कारण नहीं।''[29]

यहाँ विद्वानों में विभेद है। विद्वान आर्य–अनार्य संबंध को लेकर एक मत पर नहीं पहुँचते। अलग–अलग विचारधाराओं के विद्वानों में मतभिन्नता हो सकती है। किंतु एक ही विचारधारा के विद्वान इतिहासकार, साहित्यवेत्ता अलग–अलग मत रखें तो विषय बेहद विवादास्पद हो जाता है। जैसा कि आर्य–अनार्य संबंध में है। आर्य बाहर से आए या यहाँ के मूल निवासी थे? ये प्रश्न इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है कि उनका यहाँ साहित्यिक एवं सांस्कृतिक योगदान क्या था? भारतीय इतिहास में आर्य–अनार्य संबंधी विवाद के बीच योगदान का उल्लेख उपेक्षित हो जाता है। आर्यों या अनार्यों ने संस्कृति और सभ्यता के संवहन में कितना गंभीर योगदान दिया। दर्शन, इतिहास, सभ्यता, निर्माण, कला, साहित्य के विकास में आर्यों की क्या भूमिका थी। बाह्य अथवा मूल निवासी का प्रश्न इतिहास अध्येताओं के लिए महत्त्वपूर्ण है लेकिन उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण इनके योगदान की विवेचना है।

1.3 भारतीय दर्शन

प्राचीन भारतीय इतिहास का अध्ययन करने पर यहाँ दो वैचारिक मान्यताएँ ज्ञात होती हैं। एक विचारधारा के प्रतिनिधि थे आर्य और दूसरी के अनार्य। वाचस्पति गैरोला अपनी पुस्तक 'भारतीय दर्शन' में स्पष्ट करते हैं कि ''आर्य समूह वैदिक धर्म का अनुयायी था और अनार्य समूह भौतिक मान्यताओं पर विश्वास करता था।''[30] 'भारतीय चिंतन परंपरा' पुस्तक में के. दामोदरन के अनुसार ''वर्गों के उदय से पूर्व आर्यों के समाज में जो धर्म प्रचलित था, उसे वैदिक धर्म कहा जाता है। यह विश्वासों और कर्मकाण्ड़ों की एक जटिल व्यवस्थावाला धर्म था। यह प्रकृति पूजा का एक आदिम रूप था।''[31] इस प्रकार भारतीय दर्शन का दो भागों में वर्गीकरण हो जाता है, एक भौतिकवादी विचारधारा तथा दूसरी आध्यात्मिक विचारधारा।

भारतीय दर्शन की निष्पत्ति 'दृश' धातु में करण् अर्थ में ल्युट् प्रत्यय लगाकर हुई है। जिसका अर्थ होता है 'जिसके द्वारा देखा जाए'। कुछ ऐसी भी वस्तुएँ होती हैं जिन्हें हम बंद आँखों से नहीं देख पाते उनके लिए सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता होती है। वाचस्पति गैरोला कहते हैं, ''इस सूक्ष्मदृष्टि या तात्त्विक बुद्धि का दूसरा नाम प्रज्ञाचक्षु, ज्ञानचक्षु या दिव्यदृष्टि है। इस मत में दर्शन का अर्थ हुआ 'जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाए। गीता में श्रीकृष्ण ने अपना विश्वरूप दिखाने से पहले अर्जुन को दिव्यचक्षु दिए थे।''[32] प्राचीन दार्शनिकों ने प्रकृति के रहस्यों को समझने के लिए अपने मत एवं वाद प्रस्तुत किए। ''प्राचीनों के अनुसार दर्शन तत्त्वज्ञान है और आत्मज्ञान या अन्वेक्षण। दर्शन की प्रमुख शाखा ज्ञान मीमांसा है जो ज्ञान के स्वरुप एवं साधनों पर विचार करती है।''[33] विभिन्न विद्वानों ने दर्शन को अनेक रूपों से परिभाषित किया है, विविध मत रहे हैं।

आदिकालीन आर्यों ने प्रकृति जिज्ञासा संबंधी अनेकों प्रश्न उठाए हैं। उनका उत्तर ढूँढ़ने के लिए वे प्रयत्नशील रहे। ''यह ब्रह्माण्ड क्या है? यह कैसे अस्तित्व में आया? इसके पीछे कौन सी शक्ति है? क्या हमारे चारों ओर के परिवर्तनशील जगत् से परे कोई अपरिवर्तनशील और शाश्वत वस्तु है?''[34] इसके अतिरिक्त सूर्य, मेघ, विद्युत, वर्षा, जन्म, मृत्यु आदि संबंधी प्रश्न आर्यों को विचलित करते थे। ''निद्रा और जागृति के बीच क्या अंतर था?

क्या मृत्यु पर विजय पायी जा सकती थी? और जीवन को अनश्वर बनाया जा सकता है? क्या मृत्यु के बाद भी जीवन हो सकता था? एक मृत शरीर और जीवित शरीर में वास्तव में क्या अंतर था? ये प्रश्न आदिकालीन आर्य बार–बार अपने से पूछते थे।''[35] सत्य और ज्ञान की खोज करना, उसके वास्तविक स्वरूप का पता लगाना तथा उसे समझने की कला ही दर्शन है। जिज्ञासावश आर्यों ने जगत् एवं जगत् से परे, दृश्य एवं अदृश्य संबंधी विषयों पर विचार किया। अपने–अपने मत एवं वाद दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत किए गए तथा ये वाद किसी ठोस तर्क पर आधारित थे।

भारतीय दर्शन को दो भागों में वर्गीकृत किया गया है 1. भौतिकवादी दर्शन 2. अध्यात्मवादी दर्शन। जिसे आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन भी कहा जाता है। आस्तिक वह माना जाता था जो यह विश्वास करता था कि परलोक है। नास्तिक दर्शन में परलोक को अस्वीकार किया गया है। किंतु आगे चलकर वेदों की सत्ता को मानने वाली प्रणाली आस्तिक कहलाने लगी। नास्तिक दर्शन वेदों की सत्ता को नहीं मानते थे। वेदों के प्रति दृष्टिकोण ही इस वर्गीकरण का मूल आधार माना गया है। के. दामोदरन के अनुसार ''वे दार्शनिक जो आत्मा को प्राथमिक और संसार को एक अथवा दूसरे रूप में सृष्टिकर्ता का कौशल मानते हैं, अध्यात्म के शिविर के दार्शनिक माने जाते हैं।''[36] भारतीय भौतिकवादी दर्शनों में लोकायत, बौद्ध तथा जैन दर्शन आते हैं तथा अध्यात्मवादी दर्शनों में सांख्य, न्याय, योग, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदांत दर्शन आते हैं। वाचस्पति गैरोला भारतीय दर्शन की विशेषता स्पष्ट करते हुए कहते हैं, ''जहाँ तक भारतीय दर्शन का संबंध है, उसके अनेक संप्रदाय, मत, पंथ, सिद्धांत और वाद एक ही आत्मप्राप्ति के उद्‌देश्य को लेकर आगे बढ़े हैं।''[37]

1.3.1 भौतिकवादी दर्शन

भौतिक का अर्थ है कि मूर्त अथवा दृश्यनीय। भारतीय भौतिकवादी दर्शनों में लोकायत, बौद्ध तथा जैन दर्शन आते हैं। भौतिकवादी दर्शन में सृष्टि के भौतिक संदर्भ पर

विशेष बल देते हुए महत्त्व दिया जाता है। यह दर्शन नास्तिकवादी दर्शन है। यह अनीश्वरवादी दर्शन, परलोक में विश्वास नहीं करता। यह आत्मा की अपेक्षा प्रकृति को प्राथमिकता देता है। इस दर्शन में परमतत्त्व ईश्वर की उपेक्षा तो होती ही है, आत्मा का स्वरूप भी तिरोहित हो जाता है। इस दर्शन का उत्कर्ष रूप उस समय सामने आता है, जब कर्म की प्रधानता रेखांकित की जाती है।

1.3.1.1 लोकायत दर्शन

लोकायत दर्शन के प्रणेता चार्वाक ऋषि को माना जाता है। के. दामोदरन के अनुसार ''ई० पू० आठवीं और छठी शताब्दी के मध्य भारत में अनेक भौतिकवादी दार्शनिक विचारधाराओं से ही लोकायत अथवा चार्वाक दर्शन का उदय हुआ।''[38] 'भारत का सांस्कृतिक इतिहास पुस्तक' में हरिदत्त वेदालंकार ने इसका प्रवर्तक बृहस्पति ऋषि को माना है और इस दर्शन की विचारधारा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, ''अध्यात्मवाद निरा ढ़कोसला है, जगत् में आँखों से दिखाई देने वाले, भूमि, जल, अग्नि और वायु चार ही तत्त्व हैं।''[39]

'चार्वाक' शब्द को लेकर आधुनिक इतिहासकारों एवं दार्शनिकों में मतभेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार ''संसार खाने–पीने तथा मौज उड़ाने (चवर्ण) के लिए है। इस दृष्टि से चार्वाक, किसी व्यक्ति विशेष का नाम न होकर उस सारे सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो पुनर्जन्म और देवतावाद के विरोधी थे।''[40] चार्वाक शब्द के विषय में इस दर्शन के विरोधी अपना मत उसके अनुयायियों के प्रति रखते हैं कि चार्वाक ''उसके अनुयायियों के लिए गाली तथा अपमान के अर्थ में प्रयुक्त किया है।''[41] के. दामोदरन के अनुसार ''चार्वाक शब्द की व्युत्पत्ति दो शब्दों चारू (सुंदर अथवा आकर्षक) और वाक् (शब्द) से हुई; यह इस बात का द्योतक है कि चार्वाक दर्शन को मानने वाले अपने कौशलपूर्ण तर्कों से भोले–भाले लोगों को आकर्षित करते थे और उन्हें भौतिकवादी बना लेते थे।''[42] इसको लोकायत दर्शन भी कहा गया, क्योंकि सामान्य जनों ने इसे बड़ी रूचि से अपनाया। लोकायत

का यह अर्थ भी लिया गया है कि यह दर्शन की एक ऐसी प्रणाली है ''जो इस लोक में विश्वास करती है और स्वर्ग, नरक अथवा मुक्ति की अवधारणा में विश्वास नहीं करती।''[43] कुछ विद्वानों के अनुसार महाभारत में वर्णित चार्वाक नामक ऋषि द्वारा प्रवर्तित होने पर इस दर्शन का नाम 'चार्वाक' रखा गया।

चार्वाक अनुमान को प्रमाण नहीं मानता, इसलिए वह ईश्वर, आत्मा, परलोक के अनुमान को स्वीकार नहीं करता। मोक्ष, धर्म और अधर्म तथा पाप–पुण्य के भेद को नहीं मानता। पुरोहितों और उनके कर्मकांडो की तीव्र निंदा करता है। चार्वाक के अनुसार, ''देखना ही विश्वास करना है, कुछ अग्नियों को देखकर यह धारणा बना लेना के जहाँ–जहाँ आग है, वहाँ–वहाँ धुँआ है, उचित नहीं; क्योंकि आग से धुँआ देखकर उनमें कार्य–कारण संबंध स्थापित करने में कभी–कभी गलती हो जाती है क्योंकि गीली लकड़ी, जो उपाधि है और जिसके कारण धुँआ है उसकी उपेक्षा कर दी जाती है।''[44] चार्वाक दर्शन एक यथार्थवादी दर्शन है, जो अनुमान को स्वीकार नहीं करता अपितु प्रत्यक्ष में विश्वास रखता है।

चार्वाक को छद्मवेशी राक्षस कहा गया है। महाभारत में ''कुरुक्षेत्र की लड़ाई के बाद जब पाण्ड़व विजय समारोहपूर्वक घर वापस लौट रहे थे तब युधिष्ठिर को आर्शीवाद देने के लिए ब्राह्मण नगर द्वार पर इकट्ठा हुए। चार्वाक इन ब्राह्मणों में से एक था। उसने आगे बढ़कर राजा से कहा वह ब्राह्मणों का जमाव तुम्हें कोस रहा है क्योंकि तुमने अपने बंधुओं को मारा है। अपने ही आदमियों का नाश करके, अपने ही बड़े–बूढ़ों का खून बहाकर तुम्हें क्या मिल गया? चार्वाक का यह उद्‌गार अप्रत्याशित था और सब ब्राह्मण उसे सुनकर स्तब्ध रह गए। युधिष्ठिर को भी उसने मार्मिक रूप से आहत किया और उसके मन में आया कि वह मर जाए लेकिन दूसरे ब्राह्मण होश में आए और उन्होंने राजा से कहा कि यह चार्वाक तो छद्मवेशी राक्षस है और तब उन्होंने इस विद्रोही चार्वाक को जला डाला।''[45] इस महाभारत उद्धरण में सच बोलने के साहस की सराहना करते हुए देवीप्रसाद चट्‌टोपाध्याय अपनी पुस्तक 'भारतीय दर्शन' में लिखते हैं, ''चार्वाक ने ऐसी कोई बात नहीं कही जिसमें स्वार्थ–परायण सुखभोगवाद की गंध भी हो। क्योंकि युधिष्ठिर पर जिस कुकृत्य का आरोप लगाया गया, वह था अपने बंधुओं को मारना और बड़े–बूढों का खून बहाना और कुरुक्षेत्र की लड़ाई में यह सब

हुआ भी था। बंधुओं को मारना पड़ गया था, पुराने समाज की नैतिक मान्यताएँ पैरों तले कुचली गईं थीं। चार्वाक का इसके विरोध में आवाज़ उठाना दो टूक और साहसपूर्ण था।''[46] इस उद्धरण से प्रतीत होता है स्वयं पाण्डव भी चार्वाक मत के समर्थक रहे होंगे।

एक अन्य प्रसंग में राम के वनवास तथा दशरथ के स्वर्गवास के पश्चात् लोकायतवादी जाबालि की भेंट राम से वन में होती है और वह राम से कहते हैं, ''अन्य उपायों धनोपार्जन में क्लेश देख, दूसरों का धन हरने में चतुर लोगों ने दान द्वारा लोगों को वश में करने के लिए धर्मग्रंथों में लिख रखा है कि यज्ञ करो, दान दो, दीक्षा लो, तप करो, संन्यास लो अर्थात् लोगों को धोखा देकर उनका धन हरण करना ही इन धर्मग्रंथो की रचना का मुख्य उद्देश्य है। वास्तव में इस लोक के अतिरिक्त परलोक आदि कुछ भी नहीं है। इसे आप भली–भांति समझ लीजिए। अतः जो सामने है, उसे ग्रहण कीजिए और जो परोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं है उसे पीठ पीछे कीजिए अर्थात् प्रत्यक्ष में सुखदायक राज्य को ग्रहण कीजिए और परोक्ष की बात (सत्यप्रज्ञ करने से बड़ा पुण्य होगा) को भुला दीजिए।''[47]

'भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास' पुस्तक में रामविलास शर्मा अपना मत व्यक्त करते हैं, ''वाल्मीकि के राम ने जाबालि की बात नहीं मानी, तुरंत अयोध्या नहीं लौटे, परंतु उसके बाद से अंत तक उनकी दृष्टि राज्य पर थी, यह रामायण से स्पष्ट है। यह सारा व्यापार लोकायत दर्शन के अनुरूप है।''[48] महाभारत के महान् पात्र युधिष्ठिर जो धर्म एवं न्याय मार्ग के पथी थे तथा रामायण के मुख्य पात्र मर्यादापुरुषोत्तम श्री राम दोनों के कृत्यों को चार्वाक दर्शन से प्रभावित दिखाया है।

जिस धर्म में दुख अधिक और सुख कम मिले उसको त्यागना इस दर्शन का मूल तत्त्व है जो लोक को अधिक भाया है। परंतु लोकायत मत की आधारभूत प्रामाणिक सामग्री के अभाव का कारण शिवकुमार मिश्र अपनी पुस्तक 'साहित्य, इतिहास और संस्कृति' में स्पष्ट करते हैं, ''लोकायत मत की यह सामग्री इस कारण परवर्ती कालों में नष्ट की गई ताकि दर्शन को धर्म तथा अपने वर्ग हितों के अनुरूप इस्तेमाल करने का विशेषतः ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग ने अपने हित में स्थापित की थी।''[49] स्वच्छंद चार्वाक दर्शन जो किसी प्रकार का भेद तथा

बंधन स्वीकार नहीं करता, ऐसे दर्शन की आधारभूत सामग्री को उच्च वर्गों द्वारा अपना वर्चस्व समाज में बनाए रखने के कारण नष्ट कर दिया गया।

संक्षेप में चार्वाक दर्शन ने अंधविश्वास की बेड़ियों को तोड़ने तथा कर्म बंधन से मुक्त होने में जनता की सहायता की। ''कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी राजकुमारों को निर्देश दिया गया है कि वे सांख्य और योग प्रणालियों के साथ–साथ लोकायत दर्शन का भी अध्ययन करें।''[50] विद्वानों ने इस लोकप्रिय दर्शन की आलोचना करते हुए कहा है ''जिस रूप में यह जीवन दर्शन प्राप्त हुआ है, उस रूप में वह संवेदनशील और समझदार नर–नारियों के बरतने योग्य नहीं है।''[51]

1.3.1.2 बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन एक यथार्थवादी दर्शन है। वाचस्पति गैरोला के अनुसार ''छठी शताब्दी ई० पू० से लेकर नवीं शताब्दी तक 1500 वर्षों की अवधि में बौद्ध दर्शन का सक्रांति काल रहा।''[52] बौद्ध धर्म की दार्शनिक विचारधारा स्वयं, उनका धर्म का सिद्धांत है। उनकी दृष्टि में वेद, आत्मा, ईश्वर आदि सभी बातें अविश्वसनीय है। उन्होंने समाज को अंधविश्वासों की ओर जाने से रोका। उनके अनुसार दुख को दूर करने का तरीका अभिलाषाओं का अंत कर देना है।

'भारत का सांस्कृतिक इतिहास' पुस्तक में हरिदत्त वेदालंकार बौद्ध दर्शन के दो दार्शनिक सिद्धांतों की चर्चा करते हैं, ''1. संघातवाद 2. संतानवाद। पहले सिद्धांत का आशय यह था कि आत्मा की कोई पृथक सत्ता नहीं, वह शरीर और मानसिक प्रवृत्तियों का समुच्चय (संघात) मात्र है। संतानवाद का तात्पर्य है कि आत्मा तथा जगत अनित्य है, यह प्रतिक्षण बदलता रहता है। जिस पर नदी का प्रवाह प्रतिक्षण बदलने पर भी वहीं प्रतीत होता है, दीपक की लौ परिवर्तित होते हुए भी उसी तरह जान पड़ती है, वैसे ही आत्मा और जगत् क्षणिक होने पर भी प्रवाह (संतान) रूप में बने रहने के कारण स्थायी प्रतीत होता है।''[53] बौद्ध दर्शन

के तर्क के अनुसार ''प्रत्येक वस्तु हर क्षण बदलती रहती है और सारी स्थिरता केवल दृष्टि–भ्रम है। किसी पदार्थ अथवा वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है।'[54] संसार की कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है, अपितु प्रतिक्षण अपना स्वरूप परिवर्तित करती रहती है।

बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद बुद्ध ने सारनाथ में प्रथम उपदेश दिया था जिसमें उन्होंने चार आर्य सत्यों की व्याख्या की थी। ''ये चार आर्य सत्य है 1. दुःख 2. दुःख का कारण 3. दुःख का अंत 4. दुःख के अंत का उपाय।''[55] सभी भारतीय दर्शनों में भिन्न–भिन्न प्रकार से इसी का समावेश है। रोमिला थापर पुस्तक 'भारत का इतिहास' में लिखती हैं, ''सृष्टि का विश्लेषण बौद्ध दर्शन में कारणवाद के आधार पर किया गया, जिसमें विवेकाश्रित तर्क की प्रधानता थी। दैवी हस्तक्षेप को उनकी व्याख्या में कोई स्थान प्राप्त नहीं था। पुनर्जन्म के चक्कर से छुटकारा पाकर निर्वाण प्राप्त करना ही मुक्ति का एकमात्र साधन था। इस प्रकार बौद्धों के मुक्ति मार्ग के लिए कर्म का सिद्धांत आवश्यक था।'[56] बौद्ध दर्शन पुनर्जन्म में विश्वास करता था। बौद्ध आत्मा के अस्तित्व एवं इसकी शाश्वतता से इंकार करता था किंतु कर्म करने से मुक्ति प्राप्त होती है इस सिद्धांत को स्वीकार करता था।

दार्शनिक जो आत्मा को जन्म और मृत्यु से मुक्त मानते थे तथा शाश्वत और अमरणशील आत्मा का प्रचार करते थे। बुद्ध ने इस मान्यता का खण्डन किया, बुद्ध के विचार हैं, ''हमारी यह काया ही जब क्षणिक है, तो आत्मा जैसी स्थिर वस्तु उसमें रह ही कैसे सकती है?''[57] बुद्ध आत्मा स्वरूपी तत्त्व को नहीं मानते साथ ही साथ ईश्वर की सत्ता को भी नकारते हैं बुद्ध का तर्क था कि ''ईश्वर में विश्वास प्रायः ही श्रेष्ठ जीवन बिताने में व्यवधान उत्पन्न करता है तथा ईश्वर के संबंध में चिंतन प्रायः निष्क्रियता को जन्म देता है और जिम्मेदारी की भावना को कमजोर करता है।''[58] बुद्ध पतन को निश्चित मानते हैं, जहाँ संयोग है वहाँ वियोग भी है और जहाँ जन्म है, वहाँ मृत्यु भी अवश्य है। कर्मों के अनुसार बुद्ध पुनर्जन्म के सिद्धांत को वास्तविक मानते हैं। देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय पुस्तक 'भारतीय दर्शन' में स्पष्ट करते हैं, ''बौद्धों के विचारजगत् में यह चिंतन एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिणाम न था, बल्कि उपनिषदों के विरुद्ध उठी एक धार्मिक प्रक्रिया का परिणाम था।''[59] बौद्ध धर्म की सबसे बड़ी

विशेषता उसकी प्रगतिशीलता है। जिसमें वर्ण व्यवस्था का विरोध किया गया है। मूलतः बौद्धों ने ब्राह्मणवाद का विरोध किया।

बुद्ध ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करते हैं, आत्मा तत्त्व को नहीं मानते। वेदों की पवित्रता तथा प्रमाणिकता को चुनौती देते हैं। बुद्ध के समय में सामाजिक अवस्था ऐसी थी कि ऊँची जाति के धनी लोग यज्ञ कर सकते थे। नीची जाति के लोग यज्ञ, कर्मकाण्ड, वेदों के अध्ययन एवं उच्च शिक्षा से वंचित थे। ऐसी स्थिति में बौद्ध धर्म का द्वार इनके लिए खुला। इसलिए बौद्ध धर्म एवं दर्शन प्रगतिशील कहा गया।

1.3.1.3 जैन दर्शन

जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों समकालीन रहे हैं। छठी से नवीं शताब्दी का काल जैन युग का स्वर्ण युग था। बौद्धों की तरह जैन भी ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखते। वेदों की प्रामाणिकता से इंकार करते हैं। पुरोहितों एवं कर्मकाण्ड का विरोध करते हैं।

भारतीय दर्शन पुस्तक में देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय लिखते हैं, ''जैन दृष्टिकोण की अपनी निजी विशेषता थी 'अनेकान्तवाद'। जिसके साथ जुड़े हुए थे 'स्यादवाद' या 'सप्तभंगी नय' के तर्कशास्त्रीय सिद्धांत। अनेकांतवाद का एक अर्थ हो सकता है किसी बात को चरम सत्य न मानने का सिद्धांत, लेकिन इसका कदाचित सही अर्थ होगा किसी प्रकार की चरमपंथिता को स्वीकार न करने का सिद्धांत।''[60] जैन दर्शन में आत्मा को स्वीकार किया है तथा शरीर को आत्मा से अलग एवं स्वतंत्र माना गया है ''जैनों की कल्पना है की प्रत्येक वस्तु में आत्मा रहती है।''[61] बौद्धों ने आत्मा के अस्तित्व से इंकार किया है, किंतु जैनों ने आत्मा की अनश्वरता में विश्वास किया है। के. दामोदरन स्पष्ट करते हैं, ''जैन मतावलंबियों के अनुसार दो मूल श्रेणियाँ हैं जीव और अजीव। ये दोनों श्रेणियाँ किसी के द्वारा सृजी नहीं गई हैं और इनका स्वतंत्र अस्तित्व है तो भी ये परस्पर सम्बद्ध है जीव आंनद लेने वाला है और अजीव आनंद देने वाली वस्तु है।''[62] आगे के. दामोदरन स्पष्ट करते हैं, ''जैन मतावलंबी इस

बात पर जोर देते थे कि मस्तिष्क, श्वास, आवाज अथवा ध्वनि, पदार्थ से स्वतंत्र नहीं रह सकते। सभी भौतिक पदार्थों में चार गुण विद्यमान होते हैं—यथा स्पर्श, स्वाद, गंध और रंग। ये गुण पदार्थ के बिना मौजूद नहीं रह सकता।''[63] नित्य अनित्य संबंधी प्रश्न पर जैनों का मत है, सभी में नित्य और अनित्य दोनों की सत्ता विद्यमान रहती है। जैन दर्शन में परमाणुओं के संघात से ही संसार के सारे पदार्थों की उत्पत्ति बतायी गयी है।

जैन धर्म के अनुसार मानव जीवन का उद्देश्य निर्वाण प्राप्त करना है। हरिदत्त वेदालंकार के अनुसार, ''जैन धर्म का प्रधान सिद्धांत स्यादवाद है। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु अनंत धर्मात्मक हैं। इन सब का ज्ञान तो उसी व्यक्ति को हो सकता है, जिसने कैवल्य (मुक्ति) प्राप्त कर लिया हो। साधारण व्यक्ति उसके अंश मात्र को ही जान सकता है। अतः हमारा ज्ञान सीमित और सापेक्ष है। इसे प्रकट करने के लिए प्रत्येक ज्ञान के साथ शुरु में स्यात् (सम्भवतः) शब्द जोड़ना चाहिए। इसी को स्यादवाद या अनेकांतवाद कहते हैं।''[64] जैन धर्म के अनुसार सृष्टि अनादि है तथा जिन तत्त्वों से इनका निर्माण हुआ है वह भी अनादि है। आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उनके अनुसार शरीर से भिन्न आत्मा को जान लेने पर निर्वाण की प्राप्ति होती है। निर्वाण प्राप्त कर लेने पर मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता। जैन दर्शन में मोक्ष के तीन साधन माने जाते हैं ''सम्यक दर्शन (श्रद्धा), सम्यक ज्ञान और सम्यक चरित्र। चरित्र की शुद्धि के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन आवश्यक है।''[65] बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म भी ब्राह्मणों की सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का विरोध करता है।

1.3.2 अध्यात्मवादी दर्शन

अध्यात्मवादी दर्शन आस्तिक दर्शन है। यह आत्मा, वेद तथा ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है। इसका उद्भव भौतिकवादी दर्शन की प्रतिक्रिया में हुआ है।

1.3.2.1 सांख्य दर्शन

सांख्य दर्शन के प्रणेता कपिल ऋषि (ई० पू० सातवीं और छठी शताब्दीं के मध्य रहने वाले व्यक्ति) माने जाते हैं। भारतीय चिंतन परंपरा में के. दामोदरन स्पष्ट करते हैं, ''यह वह समय था जब कुल कबीलेवाली आदिम साम्यवादी व्यवस्था टूट रहीं थी। विकासोन्मुख अर्थतंत्र की इस पृष्ठभूमि में प्रथम सांख्य दार्शनिकों ने तर्क और युक्ति के प्रति अपना विश्वास प्रकट किया।''[66] सांख्य शब्द का विद्वानों ने अनेक प्रकार से अर्थ किया है कुछ विद्वानों के अनुसार ''इस दर्शन का सांख्य नामकरण इसलिए हुआ, क्योंकि इसमें सर्वप्रथम पच्चीस तत्त्वों की संख्या निर्धारित की गयी है।''[67] कुछ का मत है कि इस प्रणाली का नाम सांख्य प्रणाली इसलिए पड़ा कि यह वैदिक अवधारणाओं से नहीं, वरन् तर्कपूर्ण और युक्तिसंगत चिंतन के द्वारा सत्य की प्राप्ति की समर्थक थी।

'भारतीय दर्शन' पुस्तक में देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय स्पष्ट करते हैं, ''सांख्य ने न केवल सर्व–आत्मा ब्रह्म की मान्यता को अस्वीकार किया बल्कि जोरदार तरीके से ईश्वर का भी विरोध किया।''[68] के. दामोदरन भी सांख्य दर्शन के विषय में कहते हैं, ''सांख्य दार्शनिकों ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं किया जा सका।''[69] वाचस्पति गैरोला ने ईश्वर के संबंध में सांख्यकारों के दो मत बताए हैं, ''कुछ विचारक तो ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं समझते और कुछ ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं।''[70] सांख्य दार्शनिकों ने उपनिषदों की भाँति सृष्टि के मूल तत्त्वों को खोजने का प्रयत्न किया परंतु प्रत्यक्षवादी होने के कारण उन्होंने केवल अनुमान को कभी स्वीकार नहीं किया। वेदों के प्रति निष्ठा के कारण सांख्य अध्यात्मवादी दर्शन के अंतर्गत आते हैं।

सांख्य द्वैतमूलक दर्शन है ''इसके अनुसार प्रकृति और पुरुष ही मूल तत्त्व हैं। इनके परस्पर संबंध से जगत् का आविर्भाव होता है। प्रकृति सत्व, रज, तम नामक तीन गुणों की साम्यावस्था है, इनमें वैषम्य होने पर सृष्टि का आविर्भाव होता है।''[71] सांख्य प्रणाली का सिद्धांत 'सत्कार्यवाद' बताया गया है। इस सिद्धांत की व्याख्या के. दामोदरन इस प्रकार करते हैं, ''यह सिद्धांत कार्य और कारण की समेकिकता के सिद्धांत पर आधारित है। इस सिद्धांत के

अनुसार किसी भी वस्तु की उत्पत्ति शून्य से नहीं हो सकती थी..... प्रत्येक कारण स्वंय अपना प्रभाव भी उत्पन्न करता है। इस प्रभाव का उत्पन्न न होना असम्भव है। उदाहरण के लिए दही, दूध से ही बनाया जा सकता है पानी से नहीं।''[72] किसी कार्य के होने के पीछे विशेष कारण होता है।

सांख्य दर्शन वेदों तथा वेद वाक्यों को महत्त्वपूर्ण मानता है उनके अनुसार ''शब्द दो प्रकार के होते हैं : लौकिक और वैदिक। इन्हीं को क्रमशः दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ भी कहा जाता है। माननीय या विश्वासपात्र व्यक्तियों द्वारा कहे गये लौकिक शब्दों को सांख्य प्रामाणिक नहीं मानता, क्योंकि वे प्रत्यक्ष और अनुमान पर आधारित होते हैं इसके अतिरिक्त श्रुति या वेद वाक्य प्रमाण की कोटि में आते हैं''[73] वेद वाक्यों को सांख्यवादी दार्शनिक त्रुटि अथवा दोषरहित मानते हैं क्योंकि वह अनुमान पर आधारित न होकर प्रत्यक्ष होते हैं।

सांख्य दर्शन यज्ञों को महत्त्व नहीं देता। वह यज्ञों को अपवित्र मानते हैं। तब मोक्ष प्राप्ति के लिए यज्ञ करने होते थे जिसमें पशुबलि दी जाती थी। सांख्य दर्शन इसकी निंदा करते हुए यज्ञ को अपवित्र बताकर ब्रह्माण्ड और ज्ञाता के विषय में तर्कपूर्ण विचार करके ज्ञान प्राप्त करने को महत्त्व देता है। सांख्य दर्शन भारतीय दर्शनों में एक महत्त्वपूर्ण दर्शन है जो आदर्शवाद का खण्डन करता है और प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है।

1.3.2.2 योग दर्शन

भारतीय दर्शन की योग प्रणाली, जिसके प्रणेता पतंजलि है। योग शब्द 'युज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ जोड़ना होता है। आचार्य रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार, ''इस विद्या का योग नाम इसलिए पड़ा कि इसके द्वारा साधक शरीर को आत्मा से जोड़ते हैं एवं वैयक्तिक आत्मा को विश्वात्मा में स्वीकार करते हैं। योगी, योग क्रिया के द्वारा भावों एवं उद्वेगों को शांत एवं मांसपेशियों, स्नायुओं और धमनियों की क्रियाओं को मन के अनुशासन में नियोजित करता है। अंत में मन के विलय के द्वारा योग आत्मा की मुक्ति का भी कारण होता

है।''[74] योग एक प्राचीन दर्शन है जिसके उद्‌भव के विषय में विद्वानों में मतभेद है किंतु योग को एक सुसम्बद्ध प्रणाली में बद्ध करने में पतंजलि को महत्त्व दिया जाता है। वेदांतियों के लिए योग आत्मज्ञान का एक साधन था। 'भारतीय चिंतन परंपरा' पुस्तक में के. दामोदरन स्पष्ट करते हैं, ''योग का अर्थ इस बात का सतत मनन करना था कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ' किंतु पतंजलि के मतानुसार योग का अर्थ था सभी मानसिक व्यापारों को रोक देना। उन्होंने योग की परिभाषा इस रूप में की है 'योगश्चितवृत्तिनिरोधः' अर्थात् चित् की वृत्तियों को रोकने का नाम योग है।''[75] योग के द्वारा मानसिक विकार दूर होते हैं, मन पर संयम रखा जा सकता है। इंद्रियों को वश में रखा जा सकता है।

योगाभ्यास के आठ अंग है ''1. यम (आत्म नियंत्रण), 2. नियम (अनुशासन पालन) 3. आसन (शारीरिक व्यायाम) 4. प्राणायाम (श्वास–प्रश्वास नियमन) 5. प्रत्याहार (ब्रह्म वस्तुओं से इंद्रियों की वापसी) 6. धारणा (टकटकी लगाना) 7. ध्यान (मनन) 8. समाधि (एकाग्रचित होना)।''[76] योग के इन आठ नियमों एवं अंगों का पालन कर मनुष्य अपनी इंद्रियों एवं मन पर नियंत्रण स्थापित कर सकता है और परमानंद की अवस्था को प्राप्त कर सकता है। जवाहर लाल नेहरू अपनी पुस्तक 'हिंदुस्तान की कहानी' में कहते हैं, ''पतंजलि का योग दर्शन खासतौर पर शरीर और मन के संयम का एक तरीका है, जिससे मानसिक और आत्मिक शांति मिलती है।''[77] चेतना एवं मन की रोकथाम का विशेष उपाय योग प्रणाली है, जो कि व्यक्ति को अध्यात्म से जोड़ती है।

वाचस्पति गैरोला के अनुसार योग दर्शन को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं, ''योग दर्शन के अनुसार यह संसार दुःखमय है। जीवात्मा के मोक्ष का एकमात्र उपाय योग है। ईश्वर, नित्य, अद्वितीय और त्रिकालातीत है।''[78] योग और सांख्य दर्शन एक प्रकार माने गए है। योग की तत्त्व मीमांसा (सत्व, रज, तम) सांख्य से बहुत मिलती जुलती थी। किंतु दोनों में ईश्वर को लेकर मतभेद है। सांख्य ने तो ईश्वर के विचार को तिलांजलि दे दी किंतु योग ने उसे अपनाया। साथ में देवीप्रसाद चट्‌टोपाध्याय कहते हैं कि पतंजलि की ईश्वर की अवधारणा विश्व के सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के समान नहीं थी। उसी प्रकार भारतेश कुमार मिश्र एवं सच्चिदानंद त्रिपाठी अपनी पुस्तक 'भारतीय दर्शन' में स्पष्ट करते हैं, ''योग का ईश्वर सांख्य के पुरुष तत्त्व

से भिन्न नहीं है अपितु पुरुषों में सर्वोत्कृष्ट अर्थात् पुरुष विशेष है।''[79] ईश्वर की पुरुष विशेष के रूप में व्याख्या करते हुए ये विद्वान स्पष्ट करते हैं, ''अन्य पुरुषों की अपेक्षा ईश्वर में विलक्षणता इस कोण से है कि वह अविद्या आदि पाँच क्लेश, शुभाशुभ कर्म, कर्मजनित जाति, आयु तथा भोग रूप विपाक फल तथा कर्म संस्कार कर्माशय से सर्वदा एवं सर्वथा असंपृष्ट रहता है।''[80] यद्यपि योग दर्शन ईश्वर को विशेष पुरुष के रूप में स्वीकार तो करता है, किंतु उसे ब्रह्माण्ड का सृष्टा नहीं मानता। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार ''योग दर्शन का व्यक्तिगत ईश्वर उस प्रणाली के शेष भाग से बहुत ही कम सम्बद्ध है। मनुष्य की आकांक्षाओं का लक्ष्य ईश्वर में एकात्म स्थापित करना नहीं, वरन् पुरुष को प्रकृति से पूर्णतः अलग करना है। ईश्वर की भक्ति मोक्ष प्राप्त करने के अनेक उपायों में से एक है। ईश्वर केवल एक पुरुष विशेष है, न कि ब्रह्माण्ड का सृष्टा और संरक्षक है।''[81] योग एक आदर्शवादी दर्शन माना जाता है। योगाभ्यास के द्वारा शारीरिक विकास एवं शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। चित्त शांत होता है। मानसिक विकार को दूर करने में योग की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ये साधक को परमानंद की अवस्था में ले जाता है। देश–विदेश में भारत की योग द्वारा एक विशेष पहचान बनी है। विदेशी नामकरण इसका योगा हो गया है और अब यह केवल व्यायाम की प्रणाली बन कर रह गया है।

1.3.2.3 न्याय दर्शन

न्याय दर्शन की सत्ता भारतवर्ष में बहुत प्राचीन है। इसके प्रवर्तक 'गौतम अक्षपाद' माने जाते हैं। न्याय का अर्थ है, ''वह प्रक्रिया जिसके द्वारा मस्तिष्क एक निष्कर्ष पर पहुँचे।''[82] वाचस्पति गैरोला न्याय शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं, ''जिसके द्वारा किसी प्रतिपाद्य विषय को सिद्ध किया जा सके या जिसके द्वारा किसी निश्चित सिद्धांत पर पहुँचा जा सके।''[83] न्याय दर्शन एक तर्कवादी दर्शन माना जाता है क्योंकि तर्क के द्वारा ही किसी निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है। तर्क के द्वारा ही न्याय सम्भव है।

न्याय को परमाणुवादी दर्शन मानते हुए वाचस्पति गैरोला कहते हैं, ''न्याय के अनुसार प्रत्येक वस्तु की विशिष्ट सत्ता होती है, जो उसको शेष वस्तुओं से पृथक करती है।''[84] जवाहर लाल नेहरू न्याय दर्शन के विषय में अपना मत रखते हैं, ''यह मान लिया गया था कि जिदंगी और प्रकृति में तारतम्य और एकता है। व्यक्ति रूप ईश्वर में भी विश्वास है, इसी तरह व्यक्ति रूप आत्माओं और पारमाणिक सृष्टि में। व्यक्ति न शरीर और न आत्मा, बल्कि दोनों के मेल का नतीजा है।''[85] के. दामोदरन न्याय दर्शन का विवेचन इस प्रकार करते हैं, ''वैशेषिक के समान न्याय भी मूलतः एक भौतिकवादी दर्शन है, जिसके अनुसार ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति में किसी ईश्वर अथवा अन्य अलौकिक शक्ति का हाथ नहीं है।'[86] न्याय दर्शन ईश्वर को तो स्वीकार करता है, परंतु यह नहीं मानता कि ब्रह्माण्ड के सृष्टिकर्ता ईश्वर है। ये ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का मूल आधार पाँच मूलभूत शाश्वत तत्त्वों– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश को मानते हैं। न्याय दर्शन ईश्वर की सत्ता के विषय को बड़ी गंभीरता और बारीकी से लेते हैं। वाचस्पति गैरोला न्याय दर्शन में ईश्वर संबंधी विचारों को इस प्रकार प्रकट करते हैं, ''ईश्वर निःशरीर है, किंतु उसमें इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न के गुण वर्तमान है। वह सर्वज्ञ, शक्तिमान है और अनंत ज्ञान का आगार है। इस जगत् को बनाने वाला संस्थापक, नियामक और संहारक सभी कुछ वही है।''[87] न्याय को आस्तिक एवं आध्यात्मवादी दर्शन में लेने का कारण उसकी वेदों के प्रति निष्ठा है। न्याय दार्शनिकों के अनुसार वेदों को प्रामाणिक माना गया है, क्योंकि उसको ईश्वर ने बनाया है तथा ईश्वर अनादि और अलौकिक है। इसलिए वेदों को भी अनादि और अलौकिक माना गया है।

न्याय दर्शन भारतीय दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, जिसमें अनुशासन को महत्त्व दिया गया है तथा इस दर्शन ने ईश्वरवाद के प्रवेश के द्वार आगे के लिए खोले।

1.3.2.4 वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन के प्रणेता 'कणाद ऋषि' माने जाते हैं। ''उनका स्थितिकाल लगभग 400 ई० पू० बताया गया है।''[88] कणाद को कहीं–कहीं ''अलूक या औलूक नाम से

अभिहीत किया गया है। इनके दर्शन को औलूक्य दर्शन भी कहते हैं।''[89] कणभक्ष (कणों को खाने वाला) होने के कारण उनका नामकरण कणाद हुआ। अन्य दर्शनों की अपेक्षा विलक्षण होने के कारण इस दर्शन का नाम वैशेषिक रखा गया।

वैशेषिक दर्शन एक परमाणुवादी दर्शन है। यह न्याय दर्शन से मिलता जुलता है। 'हिंदुस्तान की कहानी' पुस्तक में जवाहर लाल नेहरू इस दर्शन के विषय में कहते हैं, ''यह जीव और पदार्थ की भिन्नता पर जोर देता है और इस सिद्धांत को प्रस्तुत करता है कि सृष्टि परमाणुओं से निर्मित है। इसमें विश्व को धर्म के आधार पर संचालित बताया गया है और इसी सिद्धांत पर सारा ढांचा खड़ा है। ईश्वर के अनुमान को साफ–साफ स्वीकार नहीं किया गया है। कुल मिलाकर इसका नज़रिया यथार्थवादी है।'[90] परमाणु वैशेषिक दर्शन का महत्त्वपूर्ण, वैज्ञानिक और जटिल सिद्धांत माना जाता है। वैशेषिक के अनुसार जितने भी दृश्यमान पदार्थ है। वे सावयव है और वे भिन्न अवयवों के योग से बने हैं। ये परमाणु शाश्वत और अनश्वर हैं और वे ही इस समूचे ब्रह्माण्ड का आधार है।

के. दामोदरन, 'भारतीय चिंतन परंपरा' में वैशेषिक प्रणाली के विषय में परमाणु स्पष्ट करते हैं, ''वैशेषिक प्रणाली के अनुसार अलग–अलग हिस्सों के मिलने से संपूर्ण बनता है। प्रत्येक पदार्थ को छोटे–छोटे हिस्सों में विभाजित किया जा सकता है। भौतिक वस्तुओं के अंतिम घटक अत्यंत छोटे कण होते हैं, जो परमाणु कहलाते हैं। भौतिक जगत् की समस्त वस्तुओं का विकास इन परमाणुओं से हुआ है। परमाणु वह सूक्ष्मकण हैं, जिन्हें आगे विभाजित नहीं किया जा सकता। यहीं पर संपूर्ण और अंग के बीच में भेद समाप्त हो जाता है।''[91] वैशेषिक दर्शन की सृष्टि प्रक्रिया बड़ी उलझी हुई है ''किंतु वैशेषिक दर्शन विश्व के सृष्टा के रूप में ईश्वर को भी मानता है।''[92] वैशेषिक दर्शन का मत है कि सृष्टि और लय इन दोनों का आदि और अंत नहीं है। प्रत्येक सृष्टि से पहले वह लय की अवस्था और प्रत्येक लय से पूर्व सृष्टि की अवस्था मानते थे। के. दामोदरन इस दर्शन में कर्म के प्रभाव को महत्त्व देते हुए इसके नियम को स्पष्ट करते हैं, ''कर्म अथवा अदृष्ट का भौतिक नियम परमाणुओं से गति उत्पन्न करने वाला कारण माना गया। कर्म का नियम मूलतः कारण और प्रभाव के नियम का ही विस्तार था, जिसका अर्थ है, 'जैसा बोओगे, वैसा काटोगे' क्योंकि प्रत्येक प्रभाव का एक

कारण है, पर वह दृष्टि से ओझल अथवा अदृष्ट है।''[93] प्रत्येक कर्म के पीछे कोई कारण है। किए गए कर्म के कारण ही उसका प्रभाव उत्पन्न होता है तथा फल की प्राप्ति होती है।

वैशेषिक दर्शन परमाणुओं की शाश्वतता को बताता है। जिस प्रकार घड़े के टुकड़े–टुकड़े कर देने पर भी उसके परमाणुओं को कभी नष्ट नहीं किया जा सकता। पदार्थ का भी न तो निर्माण किया जा सकता है न ही नाश। सृष्टि प्रक्रिया का चक्र निरंतर घूमता रहता है। इसका न आदि है न अंत। यह दर्शन का एक विलक्षण सिद्धांत प्रस्तुत करता है।

1.3.2.5 मीमांसा दर्शन

मीमांसा दर्शन के प्रणेता महर्षि जैमिनि माने जाते हैं। ''मीमांसा शब्द का अर्थ है सुव्यवस्थित अन्वेक्षण।''[94] देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय मीमांसा दर्शन के विषय में विचार व्यक्त करते हैं, ''मीमांसा इस बात का जीता जागता उदाहरण है कि भारतीय दर्शन के एक आस्तिक (अर्थात् वेद भक्त) सम्प्रदाय के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करें ही।''[95] जैमिनि ने वैदिक यज्ञों को न्यायसंगत ठहराया है तथा वेदों पर गंभीर एवं मौलिक दृष्टि से विचार किया है, इसलिए इसको वैदिक दर्शन कहा गया है। भारतीय चिंतक के. दामोदरन के अनुसार, ''मीमांसकों ने इन यज्ञों को पुनरुज्जीवित किया, किंतु साथ ही उनके नए अर्थ भी जोड़े। यज्ञ अब केवल देवताओं को प्रसन्न करने के लिए अथवा आत्मा की शुद्धता के लिए नहीं बल्कि इसलिए किए जाते थे कि वेदों और ब्राह्मणों के द्वारा वे निर्देशित थे।''[96] मीमांसकों ने वेदों को पवित्र माना है ''अपौरुषेय होने से वेद निष्कुलष एवं निर्दोष है।''[97] इनके अनुसार वेदों को न तो मनुष्यों ने रचा है न देवताओं ने। वेदों की सत्ता अनादिकाल से है और यह दर्शन किसी लौकिक शक्ति को सृष्टिकर्ता नहीं मानता था। यज्ञों को स्वर्ग प्राप्ति का साधन मानते हुए इनकी एक और दृष्टि की व्याख्या दामोदरन इस प्रकार करते हैं, ''प्राचीन आर्य, निस्संदेह यज्ञों को अग्नि, वायु, वरूण और मित्र जैसे देवताओं के प्रसादन का एक साधन मात्र मानते थे और समूची जनता को यज्ञ करने के अधिकार से वंचित

कर दिया गया।'[98] मीमांसक वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मणों को श्रेष्ठ समझते थे और दास प्रथा का भी समर्थन करते थे। किंतु जैमिनि इस मत के विरोधी थे। उनके अनुसार चारों वर्णों में कम से कम यज्ञ के मामले में भेदभाव नहीं करना चाहिए।

आत्मा संबंधी विचार में भारतीय चिंतन परंपरा में के. दामोदरन उल्लेख करते हैं, ''मीमांसा आत्मा के अस्तित्व से इंकार नहीं करती। किंतु शाश्वत होते हुए भी आत्मा न पदार्थ से असम्बद्ध है न कर्म से स्वतंत्र है। आत्मा और शरीर मिलकर एक इकाई का निर्माण करते हैं। यह इकाई है–मनुष्य।''[99] मीमांसा दर्शन कर्मकांड संबंधी है। यह यज्ञ का समर्थन करते हैं। वेदों को पवित्र एवं अनादि मानते हैं। ब्राह्मणवाद का समर्थन करते हैं। मीमांसक संतान की उत्पत्ति का कारण माता–पिता को मानते हैं न कि ईश्वर को। यह दर्शन एक आदर्शवादी दर्शन माना जाता है।

1.3.2.6 वेदांत दर्शन

वेदांत को उत्तर मीमांसा भी कहा जाता है। वेदांत शब्द का अर्थ है वेद का अंत अर्थात् वैदिक साहित्य का अंतिम भाग। वेदांत उपनिषदों पर आधारित है, जो वेदों की महान् परिसमाप्ति माने जाते थे। के. दामोदरन के अनुसार ''उपनिषद्ों में कोई समान रूप से संगत दार्शनिक विचार प्रतिपादित नहीं किया। उनमें भौतिकवादी और आदर्शवादी दोनों ही प्रवृत्तियाँ विद्यमान है और अनेक स्थानों पर तो उनमें परस्पर विरोधी बातें भी कहीं गयी हैं।''[100]

वेदांत सूत्र जिसका अन्य नाम ब्रह्मसूत्र भी है। इस ग्रंथ के रचनाकार 'बादरायण' माने जाते है। ''उनका जीवन काल ई० पू० चौथी शताब्दी और ईसवी सन् दूसरी शताब्दी के बीच माना जाता है। कुछ लोग तो उन्हें पौराणिक वेद व्यास मानते हैं, जिन्होंने वेदों और महाभारत का उनके वर्तमान रूप में संपादन किया।''[101] देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय इस सूत्र के विषय में कहते हैं, ''सूत्र स्वंय इतने अस्पष्ट अर्थवाले हैं कि उनमें से किसी एक दार्शनिक मतवाद को निःसंदिग्ध रूप में निकाल पाना असम्भव है।''[102] 'भारतीय चिंतन परंपरा'

पुस्तक में के. दामोदरन ब्रह्मसूत्र के विषय में कहतें हैं, ''ब्रह्मसूत्र ने उपनिषदों के इस दृष्टिबिंदुओं पर जोर दिया है कि आत्मा ही स्वंय परमात्मा है और यह ब्रह्माण्ड उसी पदार्थ से उत्पन्न हुआ है जिससे ब्रह्म।''[103] ब्रह्मसूत्र के अनुसार सृष्टि और सृष्टिकर्ता एक है। जिस प्रकार मकड़ी अपना जाल स्वंय बुनती है, उसी प्रकार ब्रह्म ने ब्रह्माण्ड की रचना की।

विद्वानों के अनुसार ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों की शिक्षाएँ एक है किंतु उपनिषद्ों में आदर्शवादी और भौतिकवादी दोनों अवधारणाएँ हैं। बादरायण के ब्रह्मसूत्र के पश्चात् इसी श्रेणी अथवा क्रम में अन्य सम्प्रदाय एवं मत हुए जिनमें शंकराचार्य, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ आदि आचार्य हुए। जिन्होंने इस दर्शन का विकास किया।

1.3.2.6.1 अद्वैतवाद

शंकराचार्य अपने समय के अद्भुत प्रतिभा के विद्वान थे। उन्होंने वेदांत सूत्र उपनिषद् और गीता पर महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखकर अद्वैत वेदांत को प्रतिष्ठापित किया। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म के साक्षात्कार का एक ही मार्ग है अद्वैत वेदांत। ''अद्वैत शब्द का अर्थ है दूसरे का न होना। प्रस्तुत मतवाद का यह नाम इसलिए पड़ा कि इसमें एक ब्रह्म अर्थात् शुद्ध चैतन्य अर्थात् आत्मा को छोड़कर किसी दूसरे तत्त्व को वास्तविक नहीं माना गया है। लेकिन इस प्रकार का दर्शन ईश्वरवाद के लिए अवकाश भी कदाचित् ही छोड़ता है क्योंकि यह दर्शन आत्मा को ही वास्तविक मानता है।''[104] शंकराचार्य ने एकेश्वरवाद पर आधारित नई प्रणाली को जन्म दिया। शंकराचार्य का मूल सिद्धांत है ''ब्रह्म सत्य है, संसार मिथ्या है और जीव (आत्मा) ब्रह्म का ही अंश है।''[105] दिखाई देने वाली दुनिया सिर्फ माया की उत्पत्ति है। ब्रह्म को ही परम सत्य और मायाजनित विकार से रहित माना है। जगत् अवास्तविक हो गया। 'भारतीय दर्शन' पुस्तक में देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय शंकर और उनके अनुयायियों के माया संबंधी विषय पर कहते हैं, ''अवास्तविक जगत् वास्तविक सा प्रतीत क्यों होता है इस समस्या का हल भ्रांत प्रत्यक्षों को दृष्टांत बनाकर खोजा गया। अज्ञान के कारण

ही कोई व्यक्ति रस्सी के स्थान पर सांप देखता है। अद्वैत वेदांत की शब्दावली में अज्ञान को अविद्या अथवा माया नाम दिया गया।''[106]

शंकर का स्वीकृत दर्शन तथा संगठन बौद्धों के दर्शन से मिलते जुलते थे। आचार्य दिनकर, 'संस्कृति के चार अध्याय' में स्पष्ट करते हैं, ''जो बौद्धों का शून्यवाद था वहीं शंकर का मायावाद हुआ। शून्यवाद को मायावाद के नाम से अपनाने के कारण शंकर को लोग प्रच्छन्न बौद्ध कहते थे।'[107] किंतु शंकर ने उपनिषद्ों की सत्ता को स्थापित करने के लिए विविध आचार्यों से तर्क–वितर्क किया, शास्त्रार्थ हुए। इतिहासकार रोमिला थापर पुस्तक 'भारत का इतिहास' में स्पष्ट करती हैं कि ''बौद्ध शंकर के इस नए धर्म आंदोलन से इसलिए क्रुद्ध हुए कि यह आंदोलन उन्हीं की पद्धति से उन्हें नष्ट करना चाहता था।''[108] रामजी उपाध्याय, पुस्तक 'भारतीय धर्म और संस्कृति' में अद्वैत दर्शन में योग की महत्ता प्रतिपादित करते हैं ''शंकर ने अष्टांगिक योग के द्वारा सुगमता से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की योजना प्रस्तुत की है।''[109] शंकर का अद्वैत दर्शन निर्गुण ब्रह्म को मानता है। ब्रह्म जीव में कोई अंतर नहीं करता तथा कर्म, भक्ति एवं योग को महत्त्वपूर्ण मानता है।

भारतीय चिंतक के. दामोदरन पुस्तक 'भारतीय चिंतन परंपरा' में कहते हैं कि शंकर ब्राह्मणवाद से प्रभावित थे। शंकराचार्य ने कहा कि ''शूद्र को वेदों का अध्ययन करने और समझने के योग्य नहीं माना जाना चाहिए। भले ही वह शारीरिक रूप से पूर्णतः स्वस्थ और उसमें पढ़ने व अध्यापन करने की अभिलाषा मौजूद हो।''[110] शंकराचार्य जैसे प्रखर बुद्धि, प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले व्यक्ति जिन्होंने भारत के चार कोनों में चार मठ स्थापित किए। उन्होंने भी वर्ग व्यवस्था का समर्थन किया तथा ब्राह्मणत्व को उच्च सिद्ध किया। उनके विचार तब की जनता में असंतोषजनक हुए तभी आल्वार संतों की भक्ति भावना का विशेष स्वागत हुआ जिन्होंने भक्ति के द्वार शूद्रों के लिए भी खोले। डॉ. पी. जयरामन, 'भक्ति के आयाम' पुस्तक में स्पष्ट करते हैं, ''यद्यपि शंकर के अद्वैत दर्शन के तीव्र प्रवाह में अन्य सभी मतांतर विलीन हो गए थे फिर भी उनका अद्वैतवाद भारतीय जनमानस को स्पर्श नहीं कर सका। शंकर ने ब्रह्म और जीव की अद्वैतता को उस अमूर्त स्थिति तक पहुँचा दिया था कि सामान्य व्यक्ति अपनी बुद्धि से ग्रहण करने में असमर्थ पाने लगा।''[111]

1.3.2.6.2 विशिष्टाद्वैत

विशिष्टाद्वैत के प्रणेता 'रामानुजाचार्य' थे। डॉ. पी. जयरामन 'भक्ति के आयाम' पुस्तक में विशिष्टाद्वैत मत के विषय में कहते हैं, ''यद्यपि रामानुजाचार्य के पूर्व ही नाथमुनि, यमुनाचार्य आदि आचार्यों द्वारा श्री सम्प्रदाय या विशिष्टाद्वैत मत की रूपरेखा प्रस्तुत हो गई थी फिर भी उसे एक सुसंगठित शास्त्र सम्मत साधना पद्धति का रूप देने का प्रथम उल्लेखनीय प्रयत्न श्री रामानुजाचार्य ने ही किया है।'[112] शंकराचार्य की अद्वैत की अवधारणा में एक ब्रह्म अर्थात् आत्मा को छोड़कर किसी दूसरे का अस्तित्व नहीं है तथा ब्रह्म एवं जीव में कोई भेद नहीं है। इसी मत के विरोध में रामानुज ने विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन किया। 'भारतीय चिंतन परंपरा' में के. दामोदरन स्पष्ट करते हैं, ''रामानुज का मत था कि यद्यपि जीवात्मा परमात्मा से एकाकार है, तो भी उसका स्पष्ट और अलग अस्तित्व है यह सही है कि जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है। किंतु अंश तो संपूर्ण के बराबर नहीं हो सकता।''[113] वैष्णव दार्शनिक रामानुज शंकर के विचारों का तर्कपूर्ण खंड़न करते हैं। शंकराचार्य निर्गुण ब्रह्म की व्याख्या करते हैं। निर्गुण को महत्त्व देते हैं। वहीं ''रामानुज का ब्रह्म केवल सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी था। वरन् उसमें ज्ञान, शक्ति, कल्याण, दीप्ति तथा दया आदि गुण मौजूद है।''[114]

रोमिला थापर, 'भारत का इतिहास' पुस्तक में रामानुज के ज्ञान संबंधी विचारों का उल्लेख करती हैं, ''रामानुज शंकर के इस सिद्वांत से सहमत नहीं थे। कि ज्ञान मुक्ति का प्रमुख साधन है। रामानुज के अनुसार ज्ञान अनेक साधनों में से एक है। लेकिन पूर्णतया अर्पित भावना के साथ की गई परम भक्ति के सदृश प्रभावशाली अथवा विश्वसनीय नहीं है।''[115] रामानुज प्रपत्ति (भगवान की शरणागति) को महत्त्व देते हैं। ज्ञान ही सर्वस्व है या ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, ऐसा स्वीकार नहीं करते। रामानुज ने विष्णु की आराधना के लिए सभी जाति के लोगों को अधिकारी घोषित किया। वे वर्ण भेद को नहीं मानते थे। शूद्र जिन्हें मंदिरों में प्रवेश की अनुमति थी। रामानुज ने उनके लिए विशेष प्रयत्न किए तथा वैष्णव भक्ति की ओर आकर्षित किया।

डॉ. पी. जयरामन, विशिष्टाद्वैत सिद्धांत के ब्रह्म एवं जीव संबंधी विचारों को बताते हैं, ''जगत् ब्रह्म का शरीर है और ब्रह्म ही जगत् रूप में परिणत हुआ है, फिर भी वह निराकार है। जगत् सत्य है मिथ्या नहीं। जीव भी ब्रह्म का शरीर है। ब्रह्म स्वामी है जीव दास। जीव और ब्रह्म दोनों चेतन है, परंतु ब्रह्म पूर्ण और जीव अंश।''[116] रामानुज ईश्वर को सगुण, सृष्टिकर्ता, कर्मफलदाता एवं सर्वगुणसम्पन्न मानते हैं। ब्रह्म तथा जीव में भेद रखते है। जीव भक्ति के द्वारा ब्रह्म (ईश्वर) को प्राप्त कर सकता है।

शंकर के अद्वैत ने जहाँ 'दो का न होना' स्वीकार किया है, कि ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या, वहीं रामानुज जगत् को भी सत्य मानते हैं। उनके अनुसार दोनों सत्य है तथा ब्रह्म एवं जीव में इतना भेद है कि ब्रह्म विशिष्ट है जीव उसका अंश मात्र है। रामानुज वर्णभेद का विरोध करते हैं। जहाँ शंकर का दर्शन सामान्य जन स्वीकार नहीं कर पाया। वहीं रामानुज के विशिष्टाद्वैत को जनमानस ने सहजता से स्वीकार किया है।

1.3.2.6.3 द्वैतवाद

उत्तर वेदांत के प्रमुख दर्शन द्वैतमत के प्रणेता 'माध्वाचार्य' थे। जिनका जन्म तेरहवीं शताब्दी में हुआ। डॉ. पी. जयरामन के अनुसार, ''दार्शनिकों ने प्रायः साधन के रूप में भक्ति को स्वीकार किया था। किंतु पांचरात्र मत के पुराणों पर आधारित होने और वासुदेव, अनिरूद्ध, संकर्षण आदि के प्रतीक रूप में ग्रहण किए जाने के कारण आचार्य शंकर ने इस पांचरात्र मत को अवैदिक मत कहकर इसकी कड़ी आलोचना की थी, किंतु भक्ति का वेग दब न सका।''[117] यह भक्ति का वेग शंकर के अद्वैतवाद का खंड़न करके रामानुज के विशिष्टाद्वैत और फिर माध्व के द्वैतमत के रूप में आगे बढ़ा। माध्व की शिक्षा अद्वैत प्रणाली के अंतर्गत हुई थी। किंतु ज्यादा दिनों तक अद्वैत दर्शन का प्रभाव इन पर नहीं रहा। माध्वाचार्य का द्वैतवाद, शंकराचार्य के अद्वैतवाद और रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद, दोनों से भिन्न था।

'भारतीय चिंतन परंपरा' पुस्तक में के. दामोदरन द्वैत सिद्धांत की केंद्रीय शिक्षा बताते हैं कि ''यह जगत् यथार्थ है और जीवात्मा तथा परमात्मा के बीच भेद है। जीवात्मा, ब्रह्म और जगत ये तीनों शाश्वत् यथार्थ है। तीनों का अपना अलग–अलग स्वतंत्र अस्तित्व है।''[118] द्वैतवाद धार्मिक दृष्टि से भक्ति का समर्थन करता है। यह शंकर के एकेश्वरवाद मत का घोर विरोधी था। शंकराचार्य के सिद्धांत का खंड़न करते हुए उन्होंने कहा कि यदि ''ब्रह्म और जीवात्मा एक ही है, तो किसी मनुष्य का ब्रह्म से साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करना निरर्थक है, क्योंकि साक्षात्कार के लिए साधन करने वाला तो स्वयं ब्रह्म है।''[119] इन्होंने एक ओर शंकर का घोर विरोध किया, तो दूसरी ओर रामानुज के विशिष्टाद्वैत के भी समर्थक नहीं है। रोमिला थापर के शब्दों में ''मध्व के कुछ विचारों से ज्ञात होता है कि वह मालाबार के ईसाईयों से परिचित और संभवतः प्रभावित हुए थे। मध्व के अनुसार विष्णु अपने भक्तों पर अनुग्रह अपने पुत्र वायु देवता के माध्यम से करते हैं। यह विचार कट्टर हिंदू धर्म के विचारों से सर्वथा विपरीत है, परंतु ईसाई धर्म की 'होली घोस्ट' की धारणा से मिलता–जुलता है।''[120] मध्व को ईसाईयों से प्रभावित माना गया है। वायु देवता के माध्यम से वह अपने भक्तों के प्रयोजन सिद्ध करते हैं। एक अन्य मत में ''यहाँ ईश्वर की कल्पना पौराणिक विष्णु के रूप में की गई है और उसमें इतनी बात जोड़ दी गई है कि वे जब भी अवतार लेते हैं, तो वायु देवता उनके पुत्र बनते हैं। स्वंय मध्व को वायु देवता का अवतार माना गया है।''[121] वायु देवता को विष्णु का पुत्र मानना, इस दर्शन का ऐसा विषय है जो इसे अन्य दर्शनों से पृथक तथा ईसाईमत से प्रभावित बनाता है।

'भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव' पुस्तक में डॉ. ताराचंद मध्व के विषय में कहते हैं, ''द्वैतवाद की स्थापना मुख्यतः भागवत् पुराण पर आधारित थी। उनका उद्देश्य ईश्वर की स्वतंत्रता एवं भव्यता पर जोर देना था जिसे उनके पूर्ववर्ती विद्वानों ने कमजोर करके ईश्वर को ब्रह्माण्ड का मौलिक कारण बना दिया था। माध्व की अवधारणा के अनुसार ईश्वर वह सत्ताधारी है जो संसार पर शासन करता है और जिसकी कृपा मनुष्य को मुक्ति प्रदान करती है।''[122] ईश्वर को सर्वोच्च, सर्वसमर्थ, शक्तिमान मानने वाले माध्व ने अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों का खण्ड़न किया। डॉ. पी. जयरामन लिखते हैं, ''इन्होंने यज्ञविधान से पशु

हिंसा को हटाकर उसके स्थान पर आटे के बने हुए पशु की बलि का विधान निश्चित किया।''[123] आटे के पशु की बलि का विधान इस दर्शन की कोमलता और हिंसा विरोधी आचरण को प्रकट करता है। माध्वाचार्य जाति प्रथा और सामाजिक असमानताओं का भी विरोध करते थे। उनके अनुसार वेदों का अध्ययन करने की अनुमति ब्राह्मणों के साथ–साथ शूद्रों को भी होनी चाहिए। उन्होंने सभी को विष्णु की भक्ति करने पर बल दिया।

1.3.2.6.4 द्वैताद्वैत

निम्बार्क का मत द्वैताद्वैत मत कहलाता है। ''द्वैताद्वैत अर्थात् द्वैत और अद्वैत दोनों को मानने का सिद्धांत।''[124] भारतीय चिंतक दामोदरन कहते हैं, ''इसके अनुसार जीव (आनंद लाभ करले वाला), जगत् आनंद का साधन और ईश्वर तीनों अलग–अलग है। आत्मा की प्रकृति वस्तुगत यथार्थ है किंतु, ये दोनों ईश्वर पर निर्भर ही एकमात्र ईश्वर से स्वतंत्र हैं।''[125] शंकर का अद्वैत जिसके अनुसार ब्रह्म और जीव एक ही है। रामानुज के द्वैतवाद में ब्रह्म और जीव दोनों भिन्न है, जिसमें ब्रह्म सर्वोच्च सर्वशक्तिमान एवं विशिष्ट है एवं जीव उसका एक अंश मात्र है। वहीं निंबार्क का मत दोनों का मिला–जुला मत है, जिसमें जीव, जगत् एवं ईश्वर तीनों का अस्तित्व स्वतंत्र बताया गया है। ''निंबार्क का मत था कि भेद और अभेद दोनों ही यथार्थ है, उन्होंने कहा जीव का स्पष्ट अस्तित्व है, तो भी वह ब्रह्म पर निर्भर है, ठीक उसी प्रकार जैसे सूर्य की किरण सूर्य से अलग होती हुई भी, उस पर निर्भर होती है।'[126] इस मत के अनुसार जीव और ब्रह्म में भेद होते हुए भी दोनों में विलक्षण भेद है। ब्रह्म से संसार एवं जीव की भिन्नता और अभिन्नता दोनों समान महत्त्व की है।

निंबार्क संप्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता है राधा की उपासना। ''राधा–कृष्ण की उपासना निंबार्क से ही प्रारंभ हुई।''[127] निंबार्क के मत से ही प्रभाव ग्रहण कर परवर्ती उत्तर भारत में राधा को कृष्ण से भी बढ़कर माने जाने वाले राधावल्लभ और हरिदासी मतों का उदय हुआ।

1.3.2.6.5 शुद्धाद्वैत

शुद्धाद्वैत जिसका अर्थ है माया के बंधन से मुक्त। इस मत के प्रणेता 'वल्लभाचार्य' है। वल्लभाचार्य का सम्प्रदाय पुष्टिमार्ग के नाम से प्रसिद्ध है। वल्लभ के शुद्धाद्वैत को शंकर के अद्वैत का विरोधी मानते हुए डॉ. पी. जयरामन, पुस्तक 'भक्ति के आयाम' में लिखते हैं, ''शंकर ने जहाँ माया से शबलित ब्रह्म को जगत् का कारण माना है, वहाँ वल्लभ ने माया से निर्लिप्त या विरहित; इस कारण शुद्ध ब्रह्म को जगत् का कारण माना है।''[128] कार्य और कारण दोनों प्रकार से ब्रह्म शुद्ध है माया रहित है। के. दामोदरन के अनुसार, ''आत्मा और पदार्थ दोनों ही ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति है। इनके द्वारा ब्रह्म अपने त्रिगुणात्मक सारतत्त्व –सत्, चित्त और आनंद को प्रकट करता है, जबकि स्वंय ईश्वर में कोई परिवर्तन नहीं होता।''[129] ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति को जगत् माना गया है।

वल्लभाचार्य का संप्रदाय पुष्टि मार्ग के नाम से प्रसिद्ध है। पुष्टिमार्ग में जीव को ईश्वर के प्रति अपना सर्वस्व अर्पण कर समस्त वासनाओं का त्याग करना पड़ता है।

संदर्भ सूची–

1. रामचंद्र वर्मा; संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर, चतुर्दश सं. संवत् 2065 वि., नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ.–644.
2. सत्यकेतु विद्यालंकार; भारतीय संस्कृति का विकास, सं. 1994, पी–11 प्रकाशक, श्री सरस्वती सरन, पृ.–15.
3. डॉ संतराम वैश्य; सूर की सांस्कृतिक चेतना एवं उनका युग बोध, क्लासिकल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. 2.
4. डॉ सर्वेपल्लि राधाकृष्णन्; भारतीय संस्कृति कुछ विचार, सं. 2012, राजपाल एण्ड़ सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली–110006.
5. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, पहला सं. 1956, तीसरा सं. 2010, पुनर्मुद्रण 2012, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–211001.
6. रामजी उपाध्याय; भारतीय धर्म और संस्कृति, सं. 2012, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पृ.–1.
7. सोती वीरेन्द्र चन्द्र; भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, सं. 2010, राजपाल एण्ड़ सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली–110006, पृ.–2.
8. डॉ मंगलदेव शास्त्री; भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिक धारा), पांचवा सं. 2005, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड़, नयी दिल्ली–110003, पृ. 38–39.
9. बी.एन. पाण्डे; भारतीय संस्कृति (मुगल विरासतः औरंगजेब के फरमान), सं. 1993, हिंदी अकादमी, 235–ए, पद्म नगर, किशनगंज, दिल्ली–110007, पृ.–59.
10. सच्चिदानंद सिन्हा; संस्कृति विमर्श, प्रथम सं. 2001, द्वितीय परिवर्द्धित सं. 2014, वाग्देवी प्रकाशन, विनायक शिखर पॉलिटेनिक कॉलेज के पास, बीकानेर–334003, पृ.–62.
11. डॉ. देवराज; दर्शन धर्म–अध्यात्म और संस्कृति, चौथा सं. 2005, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड़, नयी दिल्ली–110003, पृ.–156.
12. राजमल बोरा; भारतीय भक्ति साहित्य, सं. 1994, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002, पृ.–89.
13. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, पहला सं. 1956, तीसरा सं. 2010, पुनर्मुद्रण 2012, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–211001, पृ.–58.
14. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ.–24.

15. शरदेन्दु; भारतीय संस्कृति के सामाजिक सोपान, सं. 2011, आर्य प्रकाशन मंड़ल, गाँधी नगर, दिल्ली–110031, पृ.–80.
16. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, पहला सं. 1956, तीसरा सं. 2010, पुनर्मुद्रण 2012, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–211001, पृ.–58, पृ.–39.
17. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–18.
18. रामविलास शर्मा; भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास, सं. 2001, साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली–110001, पृ.–325.
19. वही, पृ.– 325.
20. शरदेन्दु; भारतीय संस्कृति के सामाजिक सोपान, सं. 2011, आर्य प्रकाशन मंड़ल, गाँधी नगर, दिल्ली–110031, पृ.–28.
21. वही, पृ.–28.
22. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–31.
23. वही, पृ.–31.
24. शरदेन्दु; भारतीय संस्कृति के सामाजिक सोपान, सं. 2011, आर्य प्रकाशन मंड़ल, गाँधी नगर, दिल्ली–110031, पृ.–80.
25. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ.–22.
26. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, पहला सं. 1956, तीसरा सं. 2010, पुनर्मुद्रण 2012, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–211001, पृ.–58, पृ.–62.
27. शरदेन्दु; भारतीय संस्कृति के सामाजिक सोपान, सं. 2011, आर्य प्रकाशन मंड़ल, गाँधी नगर, दिल्ली–110031, पृ.–82.
28. सोती वीरेन्द्र चन्द्र; भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, सं. 2010, राजपाल एण्ड़ सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली–110006, पृ.–13.
29. वही, पृ.–13.
30. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–64.
31. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–36.

32. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–13.
33. डॉ. देवराज; दर्शन धर्म–अध्यात्म और संस्कृति, चौथा सं. 2005, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड़, नयी दिल्ली–110003, पृ.–22.
34. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–41.
35. वही, पृ.–41.
36. वही, पृ.–86.
37. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–26.
38. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–104.
39. हरिदत्त वेदालंकार; भारत का सांस्कृतिक इतिहास, सं. 2008, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, पृ.–103.
40. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–68.
41. वही, पृ.–68.
42. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–104.
43. वही, पृ.–104.
44. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–73.
45. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ. –184.
46. वही, पृ.–185.
47. रामविलास शर्मा; भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास, सं. 2001, साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली–110001, पृ.–165.
48. वही, पृ.–167.
49. डॉ. शिवकुमार मिश्र; साहित्य, इतिहास और संस्कृति, सं. 2009, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–45.
50. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–115.

51. डॉ. भारतेश कुमार मिश्र, डॉ. सच्चिदानंद त्रिपाठी; भारतीय दर्शन, सं. 2011, शिवांक प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–93.
52. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–148.
53. हरिदत्त वेदालंकार; भारत का सांस्कृतिक इतिहास, सं. 2008, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, पृ.–104.
54. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–120.
55. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–148.
56. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ.–29.
57. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–174.
58. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–122.
59. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ. –134.
60. वही, पृ.–135.
61. वही, पृ.–139.
62. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–122.
63. वही, पृ.–134.
64. हरिदत्त वेदालंकार; भारत का सांस्कृतिक इतिहास, सं. 2008, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, पृ.–104.
65. वही, पृ.–104.
66. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–138.
67. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–252.

68. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ. –114.
69. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–149.
70. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–277.
71. हरिदत्त वेदालंकार; भारत का सांस्कृतिक इतिहास, सं. 2008, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, पृ.–108.
72. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–141.
73. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–274.
74. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, पहला सं. 1956, तीसरा सं. 2010, पुनर्मुद्रण 2012, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–211001, पृ.–58, पृ.–219.
75. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ. –174.
76. डॉ. भारतेश कुमार मिश्र, डॉ. सच्चिदानंद त्रिपाठी; भारतीय दर्शन, सं. 2011, शिवांक प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–153.
77. जवाहरलाल नेहरू; हिन्दुस्तान की कहानी, सं. 2011, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–213.
78. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–282.
79. डॉ. भारतेश कुमार मिश्र; डॉ. सच्चिदानंद त्रिपाठी, भारतीय दर्शन, सं. 2011, शिवांक प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–153.
80. वही, पृ.–183.
81. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–176.
82. डॉ. भारतेश कुमार मिश्र, डॉ. सच्चिदानंद त्रिपाठी; भारतीय दर्शन, सं. 2011, शिवांक प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–62.

83. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–180.
84. वही, पृ.–223.
85. जवाहरलाल नेहरू; हिन्दुस्तान की कहानी, सं. 2011, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–211.
86. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–167.
87. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–217.
88. वही, पृ.–224.
89. डॉ. भारतेश कुमार मिश्र, डॉ. सच्चिदानंद त्रिपाठी; भारतीय दर्शन, सं. 2011, शिवांक प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–97.
90. जवाहरलाल नेहरू; हिन्दुस्तान की कहानी, सं. 2011, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–212.
91. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–158.
92. डॉ. भारतेश कुमार मिश्र, डॉ. सच्चिदानंद त्रिपाठी; भारतीय दर्शन, सं. 2011, शिवांक प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–96.
93. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–165.
94. वही, पृ.–178.
95. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ.–63.
96. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–179.
97. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–183.
98. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–183.
99. वही, पृ.–181.
100. वही, पृ.–185.
101. वही, पृ.–185.

102. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ.–78.
103. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–187.
104. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ.–78.
105. सं. हरिश्चन्द्र वर्मा; मध्यकालीन भारत भाग–1(750ई.–1540ई.), तृतीय सं. 1997, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, मॉडल टाउन, दिल्ली–110009, पृ.–89.
106. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ. –103.
107. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, पहला सं. 1956, तीसरा सं. 2010, पुनर्मुद्रण 2012, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–211001, पृ.–58, पृ.–333.
108. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ. 168–169.
109. रामजी उपाध्याय; भारतीय धर्म और संस्कृति, सं. 2012, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पृ.–61.
110. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–261.
111. डॉ पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, प्रथम सं. 2003, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002, पृ.–169.
112. वही, पृ.–172.
113. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–265.
114. वही, पृ.–265.
115. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ.–197.
116. डॉ पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, प्रथम सं. 2003, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002, पृ.–176.
117. वही, पृ.–178.

118. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–270.
119. वही, पृ.–270.
120. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ.–197.
121. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ.–81 उद्धृत (G.A Grierson in Encyclopedia of Religion And Ethics, vol. viii, P-233)
122. डॉ. ताराचंद; भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव, अनुवादक : सुरेश मिश्र, सं. 2006, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, बी–7, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092, पृ.–101.
123. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, प्रथम सं. 2003, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002, पृ.–171.
124. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ.–80.
125. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–273.
126. वही, पृ.–274.
127. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, प्रथम सं. 2003, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002, पृ.–183.
128. वही, पृ.–191.
129. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–274.

द्वितीय अध्याय : भक्ति आंदोलन

2.1 भक्ति का स्वरूप

2.2 भक्ति आंदोलन का विकास

जैन एवं बौद्ध धर्म पर ब्राह्मणवाद का प्रभाव

बौद्ध धर्म का क्षय

भक्ति का निर्गुण एवं सगुण स्वरूप

भक्ति आंदोलन के उद्‌भव विषयक मत

2.3 वैष्णव भक्ति : उद्‌भव और विकास

2.4 वैष्णव संप्रदाय : पांचरात्र मत

2.5 आल्वार संतों का प्रपत्ति सिद्धांत

2.6 अष्टछाप कवियों का पुष्टिमार्ग

द्वितीय अध्याय : भक्ति आंदोलन

2.1 भक्ति का स्वरूप

भक्त, भक्ति तथा भागवत् ये सभी शब्द भज् धातु से बने हैं ''वैदिक साहित्य में भज् शब्द का प्रयोग विभाजित करना, वितरण करना, देना, नियत करना, भाग लेना तथा साझीदार बनाने के अर्थ में हुआ है।''[1] भगवत्, भक्ति तथा भक्त को परस्पर आंतरिक सम्बद्ध बताते हुए सुवीरा जायसवाल 'वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास' पुस्तक में लिखती हैं, ''भगवत् शब्द का तात्पर्य वह आदिम जनजातीय समूह था जो समस्त जनजातीय संस्कृति का स्वामी होता था। भक्ति का अर्थ उस सम्पत्ति का एक भाग या हिस्सा था और भक्त का अर्थ था–वह व्यक्ति जिसे वह भाग प्राप्त होता था। आगे चलकर 'भगवत्' को एक देवता या भगवान के रूप में माना जाने लगा और 'भक्त' को जो उस जनजाति का एक सदस्य होता था उसके आश्रित या उपास्य के रूप में।''[2] 'भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव', पुस्तक में ताराचंद भक्ति–धर्म के तत्त्वों के विषय में उल्लेख करते हैं, ''एक व्यक्तिगत देवता, दैवी कृपा, भक्त का आत्मसमर्पण और प्रेम, सभी जाति और पंथ के लोगों की मुक्ति की वादा और रहस्यमय एकीकरण।''[3] इस प्रकार भक्ति, भक्त का भगवत्, जो कि ऐश्वर्यवान् सम्पूर्ण जगत का स्वामी है उसके प्रति आत्मसमर्पण है। भक्ति करने का अधिकार सभी जाति एवं पंथ के लोगों को प्राप्त है, भले ही उनका माध्यम अलग हो। भक्ति के माध्यम से भक्त को भगवत् कृपा प्राप्त होती है, जिससे उन्हें मोक्ष की प्राप्ति होती है। भक्ति, भगवान में आस्था, प्रेम और विश्वास है। भक्ति, भगवान का व्यवस्थित रूप से वर्णन सबसे पहले नारद और शाण्डिल्य के भक्ति सूत्रों में मिलता है। नारद ने भक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है,

''सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च''[4]

अर्थात् भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेममय तथा अमृतानंदमय भाव है। साधना के सभी साधनों में निष्काम प्रेम स्वरूप में भक्ति सरल और सहज मानी गई है। भगवान को प्राप्त करने के लिए नवधा भक्ति का क्रम विकसित होता है।

''श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

''अर्चनं वदनं दास्यं सख्यात्मनिवेदनम्।।''[5]

इस क्रम में भगवत् चर्चा (कथा) सुनना, कीर्तन, विष्णु का स्मरण, चरणों की सेवा, अर्चना, वंदना, दास्य भाव, सख्य प्रकार की भक्ति तथा आत्मनिवेदन भगवत् प्राप्ति में सुलभ बताए है। इस क्रम के बाद में भक्ति की साधनावस्था समाप्त होती है। प्रेम की परकाष्ठा रूपी अंतिम अवस्था भगवद् विरह क्षण भर के लिए सहन न करने की अवस्था है और वही सबसे शुद्ध, तीव्र और उज्ज्वल अवस्था है।

''भक्तिर्मनस उल्लासविशेषः''[6]

भक्ति मन का एक उल्लासविशेष है।

''सा पुरानुरक्तिरीश्वरे''[7]

वह (भक्ति) ईश्वर में परमानुराग है।

''पूज्येष्वनुरागो भक्तिः''[8] अर्थात् पूजनीय व्यक्ति के प्रति जो अनुराग होता है उसे ही भक्ति कहते हैं।

भक्ति का स्वरूप विविध परिस्थितियों के कारण निरंतर बदलता रहा है। भक्ति को स्त्री मानते हुए 'श्रीमद्भगवत्' में भक्ति के विषय में कहा है–

''उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धि कर्नाटके गता।

क्वचित् क्वचिंमहाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता।।

तत्र घोरे कलेयोगात पाखंडे खण्डितांगिका।

दुर्वलाहं चिरं जाता पुत्राभ्यां सह मन्दताम्।।

वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।

जाताहं युवती सम्यक् प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्।।''[9]

इस श्लोक में भक्ति वृंदावन में नारद से मिलने पर अपनी उक्त कथा बताती है। इस श्लोक में स्पष्ट है कि भक्ति का उदय द्रविड़ प्रदेश (तमिलनाडु) में हुआ। आल्वार संतों तथा आचार्य रामानुज जो तमिलनाडु के थे, उन्होंने भक्ति का प्रचार–प्रसार किया। तत्पश्चात् कर्नाटक के माध्वाचार्य का भी कृष्ण भक्ति में महत्वपूर्ण योगदान है। इसके बाद इस श्लोक में बताया है, कर्नाटक में वृद्धि के पश्चात् भक्ति महाराष्ट्र में इधर–उधर पड़ी रही। महाराष्ट्र के संदर्भ में कहने का आशय है, उस समय महाराष्ट्र में वारकरी संप्रदाय का बोलबाला था, जिसमें विट्ठल की उपासना की जाती है। वहाँ विष्णु और शिव के नाम में कोई भेद नहीं है तथा यहाँ निर्गुण भक्ति को महत्व दिया जाता है। संत ज्ञानेश्वर और नामदेव का भी निर्गुण भक्ति की ओर झुकाव था, जिस कारण भक्ति महाराष्ट्र में इधर–उधर पड़ी रही। आगे श्लोक में, भक्ति गुजरात में वृद्ध और कमजोर हो गई। जब हिंदुस्तान के अन्य प्रांतों में वैष्णव धर्म बढ़ रहा था, तब भी गुजरात में जैन धर्म का प्रसार था। उक्त श्लोक के अंत में भक्ति वृंदावन पहुँचकर पुनः अपनी युवावस्था और सुंदरता को प्राप्त करती है, किंतु भक्ति के पुत्र ज्ञान और वैराग्य अभी भी मरणासन्न है। तब नारद कहते हैं कि ज्ञान और वैराग्य का वृंदावन में कोई स्थान नहीं है यहाँ भक्ति ही सर्वोपरि है।

भक्ति मार्ग की सबसे पहली लिखित कृति 'श्रीमद्भगवद्गीता' है तथा इसमें भक्ति के स्वरूप पर वर्णन करते हुए प्रो. ताराचंद विभिन्न उद्धरणों के माध्यम से भक्ति के विषय में लिखते हैं, ''भक्ति का तात्पर्य है सभी कर्मों का ईश्वर को समर्पण, क्योंकि भक्त ईश्वर में ही रहते है और उसी में उसका अस्तित्व होता है। ईश्वर अपनी कृपा अपने भक्तों को प्रदान करता है, क्योंकि पापी उपासक को भी आश्वासन दिया जाता है कि उन्हें सद्गुणी माना जाएगा, बशर्ते कि वह अखण्ड हृदय से भक्ति करे।''[10] भक्ति में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं माना जाता। ईश्वर की दृष्टि में सभी भक्त समान माने जाते हैं चाहे वह किसी

भी कुल अथवा जाति में उत्पन्न हों। विजयेंद्र स्नातक श्रद्धा और भक्ति में भेद बताते हुए कहतें हैं, ''भक्ति मनुष्य की एक नैसर्गिक प्रवृत्ति है जो व्यक्ति की आस्था और ईश्वर के अस्तित्व के साथ जुड़ी है। मन के भीतर निहित पूज्य भाव या श्रद्धा भाव जब अपने से अधिक शक्तिशाली शक्ति या व्यक्ति के प्रति व्यक्त होता है तब वह लौकिक श्रद्धा कहलाता है, किंतु जब यही भाव अलौकिक, अदृश्य शक्ति के प्रति उदय होकर शाब्दिक रूप में व्यक्त किया जाता है तब भक्ति कहलाता है। भारतीय तत्त्व चिंतन में भक्ति को ईश्वर की उपासना, अराधना, पूजा, सेवा आदि के मूल में स्थित मुख्य प्रेरक भाव माना गया है। मनुष्य अपनी सीमित शक्ति से इस विश्व का पालन या विध्वंस नहीं कर सकता, अतः उसका ध्यान एक ऐसी विराट सत्ता की ओर जाता है जो दृश्यमान जगत के प्रादुर्भाव, स्थिति एवं संहार का कारण है।''[11] रामधारी सिंह दिनकर पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में स्पष्ट करते हैं, ''वेदों के समय आर्य यज्ञ और हवन ऋचाओं का पाठ करते थे एवं उनका विश्वास था कि यज्ञ करने से देवता प्रसन्न होते है, लेकिन भागवत् के समय में जिस भक्ति मत का प्रचार हुआ उसमें यज्ञों की प्रधानता नहीं रही और जनता यह मानने लगी कि भगवान को प्रसन्न करने का सही मार्ग यह है कि हम अपने आपको उनकी शरण में छोड़ दें। यही प्रपत्ति या शरणागति का सिद्धांत है।''[12] प्रपत्ति का सिद्धांत आल्वार संतों की देन है। जिसमें किसी भी प्रकार के कर्मकांड, उपासना या अन्य औपचारिकताओं की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रपत्ति के सिद्धांत का प्रचार रामानुजाचार्य, माध्व, निम्बार्क, वल्लभ तथा भक्ति के अन्य आचार्यों ने भी किया, जो कि आल्वार संतों से प्रभावित रहे। राजमल बोरा आल्वारों की कृति 'दिव्य प्रबंधम्' का महत्व बताते हुए कहते हैं, ''भागवत् के मूल में भक्ति है। इसी भक्ति का प्रथम दर्शन भारतीय साहित्य के दिव्य प्रबंध में हुआ है।''[13] दिव्य प्रबंध आल्वारों की रचनाएँ है जिसमें भक्ति के चार सहस्र पद है।

2.2 भक्ति आंदोलन का विकास

भक्ति आंदोलन एक क्रांतिकारी आंदोलन था। जिसमें पहली बार जनता की विराट एकता तथा भारत की अखण्डता प्रदर्शित हुई थी। यह ऐसा आंदोलन था, जिसने संपूर्ण भारत

को प्रभावित किया। इसका उद्‌भव दक्षिण भारत में हुआ और समस्त भारत में फैल गया। तमिल साहित्य के इतिहास के अंतर्गत संगमकाल तथा नीतिकाव्यों के युग के पश्चात् जो युग आता है, वह भक्ति साहित्य का काल कहलाता है। मध्यकाल से पूर्व भारत के धार्मिक इतिहास तथा विचारधारा से ज्ञात होता है, कि हजारों वर्षों से भारत में वेदों की स्थापना और उसकी परंपरा मजबूत एवं मान्य रही है। भारत के ऋषियों एवं संतों पर वैदिक चिंतन का गहरा प्रभाव पड़ा है। ''वेदों को लेकर चिंतन और व्यवहार की एक ऐसी परिपाटी निर्मित हुई जिसके अंतर्गत ही लोग सोच पाते थे। गौतम बुद्ध जैसे क्रांतिकारी और सजग चिंतक ने मुक्ति के लिए नैतिक आचरण को न केवल अपनाया अपितु उसे व्यावहारिक रूप भी दिया।''[14] विद्वानों का मत है कि बौद्ध, जैन, शैव और वैष्णव धर्म प्रायः साथ–साथ ही उत्पन्न हुए और चारों के भीतर वैदिक कर्मकांड के विरूद्ध प्रतिक्रिया का कुछ न कुछ भाव था। सर्वप्रथम जैन धर्म और बौद्ध धर्म की उत्पत्ति ने एक क्रांतिकारी विचारधारा को जन्म दिया। उन्होंने सामाजिक और धार्मिक स्तर पर जाति भेद और ब्राह्मणों की सत्ता का विरोध करने के साथ–साथ वैदिक धर्म में हिंसापूर्वक यज्ञों का विरोध किया। जैन एवं बौद्ध धर्म से धर्म, साहित्य, संस्कृति यहाँ तक की राजानीति भी प्रभावित रही।

जैन एवं बौद्ध धर्म पर ब्राह्मणवाद का प्रभाव

इतिहास में ईसा की छठी शताब्दी विश्व के विभिन्न देशों में महत्त्वपूर्ण शताब्दी रही है। इस शताब्दी में धार्मिक अंधविश्वासों का खंडन करने एवं समाज में नवजागरण लाने के लिए ईरान में जोराष्ट्र, चीन में कनफ्यूसियस व लावजे तथा भारत में महावीर व गौतम बुद्ध का अविर्भाव हुआ।

भारतीय संस्कृति के धर्मशास्त्रों के विषय में उल्लेख करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार सतीश चंद्र कहते हैं, ''धर्मशास्त्र (जो ब्राह्मणों अथवा उच्चजाति के विचारों का प्रतिनिधित्व करते थे) एक दिशा की ओर संकेत करते थे और राजनीतिक वास्तविकताएँ दूसरी

दिशा की ओर। धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रत्येक हिंदू शासक स्वतः ही धर्म की रक्षा करने के लिए बाध्य था जिसमें ब्राह्मणों की सुरक्षा, धर्मशास्त्रों का पालन और वर्ण व्यवस्था का समर्थन जैसी बातें भी शामिल थी।''[15] इसी वर्णव्यवस्था पर जैनों एवं बौद्धों ने आघात किया। इन्होंने मानव चरित्र की शुद्धता पर बल दिया और धार्मिक अंधविश्वासों का खंडन किया। जैन एवं बौद्ध धर्म तत्कालीन लोकप्रिय धर्म बन गये क्योंकि इनके सिद्धांतों में सरलता थी। समानता, स्वतंत्रता एवं बंधुत्व की भावना से प्रभावित होकर तत्कालीन राजाओं द्वारा इन धर्मों को आश्रय प्राप्त हुआ। दोनो धर्म समान रूप से असमानता, जातिपांति, वैदिक कर्मकांड के विरोधी थे।

राजनीतिक परिस्थितियों पर विचार करने पर यह माना जा सकता है संभवतः छठी शताब्दी पूर्व से ही ब्राह्मणों का वर्चस्व था जिसे ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न माना जाता है। ब्राह्मणों को विविध प्रकार की सुख सुविधाएँ प्राप्त थी ''विभिन्न शासक वर्गों को राजपूतों अथवा क्षत्रियों के रूप में मान्यता प्रदान करने के बदले में ब्राह्मणों को अपने भरण–पोषण और मंदिरों के निर्माण और रखरखाव के लिए भूमि और धन का उदार अनुदान प्राप्त होता था। इस युग में वैभवशाली मंदिरों का विकास न केवल पुनः उठ खड़ी होने वाली हिंदुत्व की लहर का बल्कि उससे भी ब्राह्मणों द्वारा नई–नई हासिल की गई ताकत और संपत्ति का सूचकांक था। ब्राह्मणों को और भी बहुत से विशेषाधिकार प्राप्त थे : वे राजपुरोहित नियुक्त किए जाते थे और धर्म तथा राजतंत्र के मामलों में उनसे अकसर सलाह ली जाती थी।''[16] बौद्ध धर्म की प्रगति ने ब्राह्मणवाद की जड़े हिलाकर रख दी। बौद्ध धर्म की प्रगति के कारण आर्य ब्राह्मण धर्म विकसित नहीं हो पा रहा था। इन धर्मों को राजाश्रय प्राप्त होने के कारण ब्राह्मण इनकी ओर तीखी दृष्टि से देख रहे थे। यज्ञ बलि, धार्मिक कर्मकांड जो ब्राह्मणों की आय का मुख्य साधन था। उन पर बौद्ध राजाओं ने प्रतिबंध लगा दिया। ब्राह्मणों द्वारा बनाई गई जाति प्रथा का निष्कासन हो रहा था। जैन एवं बौद्ध राजा सभी समभाव से अपनी प्रजा पर नियंत्रण स्थापित कर रहे थे। तीसरा ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा और शक्ति का स्रोत संस्कृत भाषा थी। जिस पर ब्राह्मणों का एकाधिकार था। तत्कालीन जैन एवं बौद्ध राजाओं के आश्रय में धर्म ग्रंथ जनसाधारण की भाषा प्राकृत और पालि में लिखे गए।

ब्राह्मणों ने बड़ी निपुणता से बौद्ध धर्म को नष्ट किया। एच. लाल अपनी पुस्तक 'भारत के आदिनिवासियों का इतिहास' में लिखते हैं, ''बड़ी संख्या में इन (आर्य) विदेशियों ने बौद्ध धर्म अपनाया जिसमें पुरोहित भी थे जो अपनी विद्वता के प्रभाव से बौद्ध विहारों और बौद्ध संघों के अध्यक्ष बन गये थे और उन्होंने बौद्ध धर्म के संघों पर कब्जा कर लिया था। फलतः बौद्ध संघ में बड़ी संख्या में पुरोहित वर्ग उत्पन्न हो गया था। उससे पहले मूलनिवासी बौद्ध तथागत बुद्ध की मूर्ति नहीं बनाते थे। उनकी उपस्थिति उनकी खडाऊँ की आकृति बनाकर या अश्व बना कर दर्शाई जाती थी। किंतु विदेशी बौद्ध भिक्षुओं ने गौतम बुद्ध की मूर्तियाँ बनाकर उनकी पूजा आरंभ कर दी और उन्हें शास्ता (गुरू) से देवता बना दिया। फलतः ऐतिहासिक बुद्ध आदिबुद्ध के अवतारों की श्रृंखला की अंतिम कड़ी के रूप में मान लिये, अतः वे अधिकाधिक पृष्ठभूमि में पड़ गये।''[17] बौद्ध धर्म के बढ़ते वर्चस्व से घबराकर समन्वय स्थापित करने के लिए ब्राह्मणों ने बुद्ध को भी विष्णु के अवतार की श्रेणी में शामिल कर लिया। उनकी भी मूर्तियाँ स्थापित होकर पूजा होने लगी।

दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन के विकास में मंदिरों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सतीश चंद्र दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन के प्रारंभिक लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, ''दक्षिण में भक्ति आंदोलन के प्रारंभिक लक्ष्य उतने अधिक ब्राह्मण और उनके कठोर रीति–रिवाज नहीं थे जितना कि बौद्ध और जैन थे; वे उस समय बहुत से दक्षिणी दरबारों में शक्तिशाली स्थिति में थे। पांड्य, चोल, होयसल और कलचुरी दरबार में नयनार और आलवार संतों के अनुरोध पर जैनों का निष्कासन और लोकप्रिय स्तर पर इन लोकप्रिय संतों द्वारा बौद्ध और जैन विचारों का मुकाबला करने का प्रयत्न, ब्राह्मणों के अनुकूल थे।''[18] यह आंदोलन कई स्थानीय शासकों के समर्थन से आगे बढ़ा। यह इसमें जैनियों एवं बौद्धों की आलोचना की गई जो कि एक प्रकार से ब्राह्मण वर्ग के अनुकूल था। मंदिरों के उदय के कारण ब्राह्मणों की स्थिति मजबूत हुई। मंदिरों को अत्यधिक अनुदान प्राप्त होता था। जिससे ब्राह्मणों का जीवन सुखमय था तथा वह उस राशि में से कृषकों को उधार स्वरूप भी धन देते थे जिससे कृषि का विस्तार हुआ तथा उनको भी ब्याज रूप में अतिरिक्त धन की प्राप्ति होने लगी। यहाँ तक की ब्राह्मण वर्ग ने व्यापार के क्षेत्र में भी भाग लिया। सतीश चंद्र के अनुसार, ''भूमि अनुदानों

एवं शाही उपहारों के कारण मंदिरों की स्थिति मजबूत हुई एवं ब्राह्मणों ने शासकों की शक्ति को वैधता प्रदान कर, शासकों की स्थिति को सुदृढ़ किया। तत्कालीन संदर्भ में शाही समर्थन का प्रयोग कभी–कभी जैनों और बौद्धों को उत्पीड़ित करने के लिए भी किया गया। इस प्रकार, पल्लव शासक महेंद्रवर्मन ने अपने दरबार से जैनों को निष्कासित करने के बाद एक जैन मठ को नष्ट कर दिया। एक अन्य शासक नेदुरमण के बारे में कहा जाता है कि उसने कई हजार जैनों को सूली पर चढ़ा दिया था।''[19] जैनों एवं बौद्धों पर तरह तरह के प्रहार हुए। उनकी संस्कृति को नष्ट करने का प्रयत्न हुआ। जैन धर्म अभी तक भारत में कुछ अंशों में जीवित है किंतु बौद्ध धर्म तो भारत में एक प्रकार से लुप्त ही हो गया। बौद्ध धर्म जिसका अविर्भाव भारत में हुआ और जिसका प्रसार विश्व भर में हुआ। उस धर्म का भारत से निर्वासन एक अद्‌भुत घटना के रूप में सामने आता है।

बौद्ध धर्म का क्षय

बौद्ध धर्म छठी शताब्दी का एक शक्तिशाली धर्म था। जिसे आगे चलकर ब्राह्मणों द्वारा हिंदू धर्म की एक शाखा के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। अंततः इस शाखा को ही काट कर अलग कर दिया गया वह भी उनकी ही पद्धति से। 'हिंदी साहित्य की भूमिका' पुस्तक में हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं, ''बौद्ध धर्म का इस देश से जो निर्वासन हुआ उसके प्रधान कारण शंकर, कुमारिल और उदयन आदि वेदांतिक और मीमांसक आचार्य माने जाते हैं..... ये आचार्यगण दार्शनिक पंडित थे, इनकी प्रतिभा और विद्वता अनुपम थी। इसलिए इनके द्वारा बौद्ध धर्म के निर्वासन और निरसन का यही अर्थ हो सकता है कि बुद्धिजीवियों और ऊपरले स्तर के लोगों के मन पर से बौद्ध धर्म के दार्शनिक युक्ति–जाल की आस्था उठ गई। ये लोग असल में बौद्ध तत्त्ववाद के समर्थक थे, भक्तिवाद के नहीं। पर साधारण जनता का तत्त्ववाद से कोई संबंध नहीं था। ऐसा हो सकता है कि राजा लोग जब बौद्ध तत्त्ववाद के कायल नहीं रहे तब बड़े–बड़े बौद्ध मठ, जो अधिकांश में राजकीय सहायता से चल रहे थे, उठ गए होंगे।''[20]

बौद्ध एवं जैन धर्मों को इन दार्शनिक आचार्यों ने शास्त्रार्थ द्वारा राजदरबारों में पराजित किया। जिससे इनकी सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ रहा था। इसी तथ्य को 'भारतीय चिंतन परंपरा' पुस्तक में के. दामोदरन स्पष्ट करते हैं, ''बहुत से राजाओं ने बौद्ध धर्म या जैन धर्म को अपनाया और विहारों के संरक्षक बन गए। परंतु पाँचवी और नौवी शताब्दियों के बीच दक्षिण में सामंतवाद के उदय से आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों से बौद्ध और जैन धर्म का क्षय होने लगा।''[21] बौद्ध और जैन धर्म दोनों ही एक सात्विक उद्देश्य को लेकर आगे बढ़ रहे थे। किंतु धीरे–धीरे इन धर्मों में विकृतियाँ आ गई। बौद्ध धर्म दो भागों महायान और हीनयान में विभक्त हो गया। महायान में बोधिसत्त्व की कल्पना की गई, जिसकी प्राप्ति के लिए बुद्ध के चित्रों और मूर्तियों की पूजा को आवश्यक माना गया। इस प्रकार महायान सम्प्रदाय भक्ति प्रधान एवं ईश्वरवादी बन गया।

इस महायान सम्प्रदाय का रूप भी धीरे–धीरे बदलता गया और इसमें तन्त्र–मन्त्र का समावेश हो गया। महायान सम्प्रदाय के अंतर्गत एक नवीन सम्प्रदाय मंत्रयान का जन्म हुआ, ''जिसमें पंच मकारों–मद्य, माँस, मीन, मुद्रा, मैथुन–के उपयोग की स्वीकृति थी। मन्त्रयान की परिणति वज्रयान में हुई। इसमें 'प्रज्ञा' को स्त्री और 'उपाय' को पुरुष मान कर 'ज्ञान प्राप्ति' के लिए दोनों के मिलन को महासुख का नाम देकर आवश्यक ठहराया गया है, इसमें पुरूष और स्त्री रति–लीन मुद्रा में युग–नद्ध रहते हैं। यही अद्वय–स्थिति ही मैथुन है यही महासुख है।''[22] मंत्रयान के विकास की एक ऐसी चरमावस्था आ गईं जब कि वह 'भैरवी चक्र' के रूप में सदाचार की अवहेलना करने लगा और फलतः वह वज्रयान के रूप में परिवर्तित हो गया। वज्रयान के प्रचारकों में प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों की गणना की जाती है, जो कि अपनी अलौकिक शक्ति सम्पन्नता, सिद्धियों और विभूतियों के लिए प्रसिद्ध थे। इन सिद्धों में प्रायः सभी वर्ण के साधक थे तथा शूद्रों की तो अधिकता ही थी अतः स्वाभाविक ही इनमें वर्ण–भेद और वर्ग–भेद की भावना न थी। इसी वज्रयान सम्प्रदाय का विकास सिद्धों के सहजयान सम्प्रदाय के रूप में हुआ। ''सिद्धों ने यद्यपि काया–साधना, गुरूभक्ति, शक्ति की उपासना तथा सहजानन्द में महासुख की कल्पना आदि का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया परन्तु बाह्याचार उनका भी रतिवादी था। वे लोग भी साधना के लिए पंच मकारों का सेवन

आवश्यक समझते थे। यद्यपि चाण्डाली, डोम्बी, योगिनी, सुन्दरी आदि शब्द सिद्धों की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक थे तथापि सर्वसाधारण तो उनका अभिधापरक अर्थ लेता था।''[23] इन्हीं सिद्धों की प्रतिक्रिया स्वरूप नाथ सम्प्रदाय का उदय हुआ। नाथ सम्प्रदाय विशुद्ध आचारवादी था एवं हठयोग दर्शन को लेकर चला था।

बौद्धिक स्तर पर बुद्ध के चिंतन की जडे हिलाने वाले और वह भी उन्हीं की पद्धति से, में शंकराचार्य का नाम अग्रगण्य माना जाता है ''बौद्धों का प्रभाव घटाने तथा वेदों, ब्राह्मणों की महत्ता को स्थापित करने के लिए शंकराचार्य ने अपने दार्शनिक सिद्धांत पर जोर दिया। अद्वैतवाद का आधार है कि ब्रह्म सत्य है जगत मिथ्या है, आत्मा–परमात्मा ही है, वह उससे भिन्न या पृथक नहीं है।''[24] बौद्धों का शून्यवाद ही शंकर का मायावाद माना जाता है। किंतु शंकराचार्य ने वेदों की सत्ता स्थापित करने के लिए अनेकों शास्त्रार्थ किए उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व और कुशल व्यक्तव्य के समक्ष अन्य धर्मों के दर्शन और विचारधाराएँ कमजोर पड़ने लगी। यद्यपि शंकर के अद्वैतवादी दर्शन का देशव्यापी महत्व उल्लेखनीय है तथापि यह जनसाधारण की समझ से परे है। मजबूत दर्शन और विचारधारा के बावजूद शंकर जनता के मन में स्थान न पा सके, जिसका कारण यह है कि शंकराचार्य ब्राह्मणवाद के समर्थक रहे। उन्होंने शूद्रों के साथ हो रहे अनुचित व्यवहार का कभी विरोध नहीं किया अपितु उसके पक्षधर रहे। ''शंकर ने अद्वैतवाद का प्रचार कर सगुणोपासना का अप्रत्यक्ष रूप से विरोध किया परंतु शंकर का निर्गुण ज्ञानवाद मन में बैठी निराशा से मानव को मुक्ति नहीं दे सका।''[25] शंकराचार्य के निर्गुण ज्ञानवाद से जनता के मन में जो निराशा उत्पन्न हुई थी, उसमें आशा का संचार शैव तथा वैष्णव संतों की भक्ति भावना ने किया। ताराचंद अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव' में लिखते हैं, ''शैव और वैष्णव संत मिलकर लोगों को बौद्ध और जैन धर्म से हटाकर शिव और विष्णु की पूजा के लिए उन्मुख करने लगे... ..... उनकी कविताएँ आम लोगों की भाषा में थी और इसमें और अन्य बातों में वे उन धर्मों के प्रति बहुत ऋणी थे, जिन्हें उन्होंने उखाड़ना चाहा। उन्होंने बौद्ध धर्म से उनकी भक्ति, जगत की क्षणभंगुरता का विचार, मानवीय निरर्थकता की अवधारणाएँ, कामनाओं का दमन और तपस्या तथा कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा, स्तूप तथा लिंगम, मंदिर, तीर्थ, उपवास, श्रमण संबंधी नियम

और सभी जातियों की समाानता का विचार लिया और जैन धर्म से उन्होंने नैतिकवादी स्वर तथा अन्य सभी प्राणियों के प्रति सम्मान की भावना ली।''[26] इस प्रकार जैन और बौद्ध धर्म से शैव तथा वैष्णव संतों ने सभी के प्रति समानता तथा सम्मान की भावना की विचारधारा को ग्रहण किया, किंतु बौद्ध तथा जैन दोनों ही निर्गुण तत्त्व को मानते थे जिनके यहाँ सगुण भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं था। रोमिला थापर, पुस्तक 'भारत का इतिहास' में लिखती हैं, 'जैन और बौद्ध मतों का स्थान शनैः–शनैः धार्मिक उपासना के एक नए रूप– तमिल संतों के भक्ति संप्रदाय ने ले लिया जो आगे चलकर भक्ति आंदोलन कहलाया। भक्ति का यह रूप ईश्वर और मनुष्य के पारस्परिक संदेश से निर्मित हुआ था, जिसका आधार प्रेम था और यह एक ऐसा संबंध था जिस पर इससे पूर्व की हिंदू विचारधारा ने इतना अधिक बल कभी नहीं दिया है।''[27] सगुण मत की स्थापना में शैव तथा वैष्णव संत दोनों का अमूल्य योगदान रहा है।

शैव भक्त नयनमार कहलाते थे जिनकी संख्या तिरसठ थी तथा आल्वार संत वैष्णव संप्रदाय से संबंधित थे जो संख्या में बारह थे। भक्ति आंदोलन इन्हीं नायनमार और आल्वार संतों के भावात्मक अनुराग का परिणाम था, जो सातवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य उत्पन्न हुआ। प्रो. ताराचंद का कथन है कि ''आल्वारों की कविताएँ धर्म के बाहरी आचरण, उपवास, और तीर्थयात्रा की और कभी–कभी मूर्तिपूजा और उपासना में असमानता की निंदा करते हैं।''[28] आल्वारों ने कर्मकाण्ड, आडम्बरों तथा असमानता की तो निंदा की है लेकिन मूर्तिपूजा के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। 'पूर्व मध्यकालीन भारत' पुस्तक में प्रशांत गौरव लिखते हैं, ''आरंभिक भक्ति आंदोलन के प्रचार प्रसार में श्रीरंगम स्थित रंगनाथ स्वामी की प्रमुख भूमिका रही। आल्वार परंपरा के अंतिम सात आल्वारों का संबंध श्रीरंगम मंदिर से रहा।''[29] शैव तथा वैष्णव संत सगुण भक्ति के उपासक थे, फिर भी दोनों की विचारधारा में अंतर था, दोनों ही मत स्वंय को श्रेष्ठ सिद्ध करते थे। शैव भक्त, शिव को ही श्रेष्ठ स्वीकार करते थे। वैष्णव संत केवल विष्णु की उपासना को ही मोक्ष प्राप्ति का साधन मानते थे। 'मध्यकालीन भारत में भक्ति आंदोलन', पुस्तक में शहाबुद्दीन इराकी स्पष्ट करते हैं, ''विपरीत विचारधारा होने के बावजूद वैष्णवों और नायनमारों ने आध्यात्मिक स्तर पर अपने–अपने ढ़ग से दक्षिण भारत में भक्ति चिंतन के विकास के लिए कठोर परिश्रम किया। यद्यपि भक्ति चिंतन के

प्रारंभिक चरणों में शैववाद का प्रभुत्व था। परंतु बाद में वह पूर्ण रूप से वैष्णववाद के अधीन हो गया।''[30] शैववाद पर वैष्णववाद के प्रभुत्व का कारण स्पष्ट करते हुए शहाबुद्दीन इराकी कहते हैं, ''शैव और वैष्णव मतों के बीच धार्मिक प्रतिद्वंदिता और चोलों का वैष्णव मत के प्रति आकर्षण बाद में भी जारी रहा।'[31] निःसंदेह किसी भी प्रकार की परिस्थिति का प्रभाव चाहे वह आर्थिक हो, राजनीतिक हो या धार्मिक जनता पर भी प्रत्यक्ष असर करती है। तत्कालीन चोल राजाओं के शासनकाल में वैष्णव धार्मिक संप्रदाओं से प्रभावित होकर ही जनता में वैष्णव भक्ति का प्रचार–प्रसार अधिक हुआ।

दक्षिण के संतों में विष्णुस्वामी, रामानुज, निम्बार्कचार्य, माध्वाचार्य और वल्लभाचार्य ने बढ़–चढ़कर वैष्णव भक्ति का प्रचार–प्रसार किया। ब्रह्मसूत्रों और उपनिषद्ों का आधार बनाकर रामानुज तथा अन्य वैष्णवों ने मायावाद का खंडन किया। परमात्मा इस संसार का रचने वाला और उसका नाश करने वाला है। जीव और प्रकृति उसके शरीर के समान है। रामानुज के विचार से उपनिषदों में जो चीज़ उपासना कहलाती थी, वही उनके समय में भक्ति थी।'[32] रामानुज ने विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन कर आत्मा को परमात्मा से भिन्न तथा परमात्मा को सर्वगुणसम्पन्न होने के कारण विशिष्ट माना। 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पुस्तक में रामकुमार वर्मा इन संतों के विषय में प्रकाश डालते हैं, ''आगे चलकर निंबार्क ने इस विष्णु रूप की अपेक्षा कृष्ण रूप की भावना को अधिक प्रश्रय दिया और उसने राधा के स्वरूप को भी जोड़ दिया। तेरहवीं शताब्दी के माध्वाचार्य ने इस विचार को और भी अधिक महानता दी। रामानंद ने दूसरी ओर विष्णु के रामरूप का प्रचार किया और उनकी भक्ति को अधिक महत्व दिया। सोलहवीं शताब्दीं में वल्लभाचार्य ने बालकृष्ण की भावना पर जोर दिया।''[33] इन सभी संतों की विचारधाराओं पर वैष्णव संत आल्वारों का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है। इन सभी संतों ने वैष्णव भक्ति के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। बच्चन सिंह, 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' में लिखते हैं, ''जो भी हो, इन सभी भक्ति आंदोलनों से जनता में आत्मविश्वास जागा और उच्च वर्ग के सामने निम्न वर्ग, जिसमें स्त्री भी शामिल है, अपने प्रति सम्मान का भाव लेकर खड़ा हुआ। भक्त कवियों ने जीवन की नीरसता में रस घोलकर कुंद होती हुई संवेदना को नया जीवन दिया।''[34] भारतीय संस्कृति में समानता

की भावना चाहे वह स्त्री संबंधी हो या दलित संबंधी, उसका क्रांतिकारी स्वरूप भक्ति आंदोलन से आरंभ होता है।

भक्ति का निर्गुण एवं सगुण स्वरूप

यह आंदोलन भारतीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण आंदोलन रहा। इस आंदोलन द्वारा जाति प्रथा को धक्का लगा और निम्न जातियों में आत्म गौरव का भाव भी जागा। यह आंदोलन सामाजिक विषमता को मिटाकर सामाजिक समता का संदेश देता है। जाति–पाति, ऊँच–नीच, अमीर–गरीब, स्त्री–पुरुष के भेद को स्वीकार नहीं करता। इसी कारण भक्ति आंदोलन जाति, प्रदेश, कुल, अवस्था और विद्या की सीमाओं को लांघकर व्यापक हो सका और देश के एक छोर से दूसरे छोर तक एक नई संवेदना के तार झंकृत कर सका।

डॉ. रामविलास शर्मा पुस्तक 'परंपरा का मूल्यांकन' में भक्ति को अखिल भारतीय बताते हुए कहते हैं, ''देश और काल की दृष्टि से ऐसा व्यापक आंदोलन संसार में दूजा नहीं है।''[35] भक्ति आंदोलन सिंध, कश्मीर, पंजाब, बंगाल, असम, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, आंध्र, उड़ीसा, तमिलनाडु आदि संपूर्ण देश में व्याप्त रहा। साथ ही यह आंदोलन वैविध्यपरक था तथा इसमें दो विभिन्न भक्ति धाराएँ दृष्टिगोचर होती है– निर्गुण संत परंपरा तथा सगुण संत परंपरा। निर्गुण संत परंपरा भी दो भागों में विभक्त है ज्ञानमार्गी शाखा एवं प्रेममार्गी शाखा। ज्ञानमार्गी संतों की श्रेणी में कबीर, नानक, दादू, पीपा, धन्ना, रैदास आदि संत आते हैं। जिन्होंने समाज में एक नई विचारधारा का विकास किया जिनका सुधारवादी दृष्टिकोण रहा। इन्होंने साखी, सबद, रमैनियों के माध्यम से जनता का मार्गदर्शन किया। प्रेममार्गी शाखा में सूफी संत आते हैं जिन्होंने भक्ति में एक नए भाव बोध का प्रवेश कराया, जिसे प्रेम भाव कहा जाता है। सूफी संतों में मुईनुद्दीन चिश्ती, निज़ामुद्दीन औलिया आदि प्रमुख संत आते हैं। सूफी संतों ने हिंदू कहानियों को माध्यम बनाकर लौकिक से अलौकिक की साधना की।

सगुण भक्तिधारा के अंतर्गत राम तथा कृष्ण की भक्ति मुख्य रूप से उल्लेखनीय रही है। वल्लभ, तुलसी, सूर, मीरा, चैतन्य आदि भक्तों ने राम तथा कृष्ण की भक्ति पर विशेष बल दिया।

सगुण और निर्गुण भक्ति दोनों की विचारधाराएँ समान थी। दोनों की ही भक्ति का उद्‌देश्य परमात्मा से संबंध स्थापित करना था तथा दोनों ने ही मोह माया के बंधनों का त्याग कर स्वंय को परमसत्ता के समर्पित कर दिया था। गुरू की महत्ता को दोनों पक्ष स्वीकार करते हैं। रोमिला थापर उल्लेख करती हैं, ''सूफियों के रहस्यवाद को भक्ति संप्रदाय के समस्त संतों ने प्रोत्साहित नहीं किया, क्योंकि इन संतों का उद्‌देश्य जनता से पृथक रहना नहीं था, बल्कि वे अपने उपदेशों को इतना सरल बनाना चाहते थे कि साधारण बुद्धि वाला मनुष्य भी उन्हें समझ सके।''[36] सूफी संतों ने रहस्यवाद पर अधिक बल दिया, जो साधारण जनता की समझ में कठिनाई से आता था, वहीं भक्त कवियों की साधारण वाणी जनमानस में अधिक गहराई से पैठ कर पाई।

उत्तर भारत में 'वर्करी' आंदोलन चौदहवीं सदी के उत्तरार्ध में नामदेव के साथ प्रारंभ हुआ। निर्गुण मत के समर्थक मराठी संत भक्त कवियों की प्रगतिशीलता सामाजिक सांस्कृतिक दृष्टि उल्लेखनीय है। इन संत कवियों में पाँच मराठी संत ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास की विशेष चर्चा होती है। यद्यपि इन संतों पर नाथ पंथ का प्रभाव रहा। विठोबा की उपासना करने वाले इन वर्करी संप्रदाय के संतों का केंद्र पंढ़रपुर रहा। वर्करी संप्रदाय के भक्तों ने लोक–परलोक को सुधारने का उपाय नाम संकीर्तन को बताया है। नाम स्मरण की साधना का विट्‌ठल सम्प्रदाय में विशेष महत्त्व है। ''ज्ञानदेव और नामदेव दोनों संतों में उत्तर भारत के प्रमुख तीर्थ–स्थलों को देखते हुए उत्तर भारत की ओर भी पर्यटन किया था। उस समय उत्तर भारत मुसलमानों के आतंक से त्रस्त था। इन दोनों संतों ने हिंदुओं के तीर्थस्थानों का विध्वंस एवं मूर्तियों का खंडित किया जाना अपनी आँखों से देखा। नामदेव का कथन है–'पत्थर के देवताओं को मुसलमानों ने तोडा–मरोडा और पानी में डुबो दिया। फिर भी वे न तो क्रोध करते हैं, न क्रंदन करते है। हे ईश्वर! मैं ऐसे दवताओं का

दर्शन नहीं चाहता।' अतः नामदेव के हृदय में इन देवताओं की सकारोपासना के प्रति कोई श्रद्धा शेष नहीं रही।''[37]

महिला संतों में अक्कमहादेवी कन्नड़ वचनकारों में इस भाषा की पहली कवयित्री हुई। कश्मीर की भक्त कवि ललद्यद की दार्शनिक चेतना अत्यंत प्रखर थी। भक्ति का प्रसार विविध आयामों द्वारा हुआ। असम के शंकरदेव जो पंद्रहवीं शताब्दी में हुए, उन्होंने असमिया भाषा को लोकप्रिय बनाया। बंगाल के चैतन्य, राधा कृष्ण की भक्ति में डूबे रहते थे। उन्होंने देश भर में यात्रा करके जनता में वैष्णव मत की शिक्षाओं का प्रचार किया।

प्रेम, ज्ञान, वैराग्य, सगुण आदि भक्ति की शाखाओं में उस समय भेदभाव अवश्य थे, किंतु वे सब एक व्यापक आंदोलन के अंतर्गत थे। रामविलास शर्मा कहते हैं, ''भक्ति आंदोलन विशुद्ध देशज आंदोलन है। वह सामंती समाज की परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ था, वह मूलतः इस सामंती समाज व्यवस्था से विद्रोह का साहित्य है।''[38] विद्वगण अपने–अपने मतानुसार भक्ति को पश्चिमी संस्कृति की देन बताते हैं। इसे ईसाईमत अथवा इस्लाम से आई भावना स्वीकार करते हैं। इस बात का खंडन करते हुए रामविलास शर्मा इसे एक शुद्ध देशज आंदोलन मानते हैं, जो सामंती व्यवस्था के विरुद्ध खड़ा हुआ। 'भारतीय चिंतन परंपरा' पुस्तक में के. दामोदरन स्पष्ट करते हैं, ''यह शुद्धतः एक धार्मिक आंदोलन नहीं था। वैष्णवों के सांस्कृतिक क्षेत्र में, उन्होंने राष्ट्रीय नवजागरण का रूप धारण किया। सामाजिक विषय वस्तु में वे जाति प्रथा के आधिपत्य और अन्यायों के विरुद्ध अत्यंत महत्वपूर्ण विद्रोह के द्योतक थे।''[39]

उत्तर भातर में सूफी मत के उदय ने सांस्कृतिक समन्वय की पृष्ठभूमि तैयार की। मुस्लिम जनता की भांति हिंदू जनता ने भी सूफीयों के मत का स्वागत किया। उनके आदर्शवादी जीवन से भारतीय जनता अत्यधिक प्रभावित हुई। डॉ. मलिक मोहम्मद अपनी पुस्तक 'वैष्णव भक्ति आंदोलन का अध्ययन में चार सूफी सम्प्रदायों की चर्चा करते हैं–

''1. चिश्ती सम्प्रदाय (12वीं शती के उत्तरार्द्ध में प्रचारित) सर्वप्रथम प्रचारक मुइनुद्दीन चिश्ती

2. सुहारावर्दी सम्प्रदाय (13वीं शती के पूर्वार्द्ध में संगठित) सर्वप्रथम प्रचारक जियाउद्दीन अबुल

नजीब तथा अब्दुल कादिर

3. कादरी सम्प्रदाय (15वीं शती के उत्तरार्द्ध में पोषित) सर्वप्रथम प्रचारक शेख अब्दुल कादर जिलानी

4. नक्शबंदी सम्प्रदाय (16वीं शती के उत्तरार्द्ध में व्यवस्थित) सर्वप्रथम प्रचारक ख्वाज़ा बहाउद्दीन नक्शबंद''[40]

राजमल बोरा भी भक्ति आंदोलन को नवजागरण स्वीकार करते हुए कहते हैं, ''हमारे देश में जब–जब अंधकार के युग आए हैं उस–उस समय नई चेतना भी आई है वह आंदोलन कहा गया, जागरण कहा गया, पुर्नजागरण कहा गया और नवजागरण कहा गया।''[41] दक्षिण और उत्तर में उत्पन्न लोकप्रिय भक्ति आंदोलन अपनी–अपनी विशेष परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुए एवं विकसित हुए। भक्ति आंदोलन ने विभिन्न धर्मों एवं विभिन्न भाषाओं के लोगों को न केवल एकजुट किया अपितु व्यापारी वर्ग एवं सामंतवादी व्यवस्था के विरुद्ध मिलकर विद्रोह किया। जाति–पाति एवं ऊँच–नीच के भेदभाव को समाप्त करना इस आंदोलन का प्रमुख उद्देश्य था। भक्ति आंदोलन की उत्पत्ति का हिंदू धर्म में आत्मसुधार के प्रयास के रूप में देखना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। भारतीय संस्कृति के विकास में इस आंदोलन का महत्वपूर्ण योगदान रहा तथा सामंती दमन एवं उत्पीड़न के विरूद्ध संयुक्त संघर्ष करने का मार्ग भी प्रशस्त किया।

भक्ति आंदोलन के उद्भव विषयक मत

भक्ति आंदोलन का भारतीय धर्मों के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। अनेकानेक विशेषताओं के साथ इसकी एक प्रमुख ऐतिहासिक विशेषता यह है कि अनेक मध्यांतरों, उत्थान–पतनों एवं स्थान परिवर्तनों के होते हुए भी यह औपनिषिदिक युग से लेकर आधुनिक युग तक गतिमान रहा है। विद्वानों ने भक्ति आंदोलन के उद्भव संबंधी अपने अपने मत दिए है। जार्ज ग्रियर्सन ने भक्ति आंदोलन को भारत का विशाल एवं व्यापक आंदोलन

बताते हुए कहा है, ''बिजली की चमक के समान अचानक इन समस्त धार्मिक मतों के अंधकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिंदू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई और कोई भी उसके प्रादुर्भाव के कारण का निश्चय नहीं कर सकता।''[42] जार्ज ग्रियर्सन भक्ति आंदोलन को ईसाई मत के प्रभाव का परिणाम मानते हैं। आचार्य रामाचंद्र शुक्ल मुस्लिम आक्रमण की प्रतिक्रिया स्वरूप भक्ति का उदय मानते हुए कहते हैं, ''देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देवमंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियां तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़नेवाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिंदू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?''[43] इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि शुक्ल जी ने हिंदी भक्ति काव्य के प्रादुर्भाव के लिए विदेशी मुस्लिम साम्राज्य की प्रतिष्ठापना को मूल कारण माना है, परंतु उस समय की राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों से जो चित्र उभर कर सामने आता है वह ठीक इससे विपरीत है। मुस्लिम शासनकाल में भी हिंदू धर्म का अंश बचा रहा। 'हिंदी साहित्य के इतिहास' से विदित होता है कि भक्तिकाल के साहित्य सृजन में भाटों एवं राजकवियों ने गहरी उदासीनता व्यक्त की है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में इस बात का खंडन किया है वह इसे इस्लाम की प्रतिक्रिया स्वरूप लिखा गया काव्य नहीं मानते, वह जोर देकर कहते है कि ''अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।''[44] किंतु इससे यह स्पष्ट होता है कि वह चार आने इस बात को स्वीकार रहे है। आगे द्विवेदी जी, डॉ. ग्रियर्सन और शुक्ल जी के तर्क को उपाहास्पद मानते हुए कहते हैं, ''यह बात उपाहास्पद है और यह कहना तो और भी उपाहास्पद है कि जब मुसलमान हिंदू मंदिरों को नष्ट करने लगे, तो निराश होकर हिंदू लोग भजन–भाव में जुट गए..... जिस बात को ग्रियर्सन ने अचानक बिजली की चमक के समान फैल जाना लिखा है वह वैसी नहीं। उसके

लिए सैकड़ों वर्ष से मेघखंड एकत्र हो रहे थे। फिर भी उसका प्रादुर्भाव तो एकाएक हो ही गया।'[45]

संभवतः मुगल साम्राज्य की स्थापना उसका प्रचार प्रसार एवं धार्मिक अत्याचार भक्ति आंदोलन के उदय होने में उतना योगदान नहीं देता। जितना चौदहवीं शताब्दी की राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थतियों का योगदान है। दक्षिण के आचार्य रामानंद के भक्ति प्रचार के साथ जब एक समाजसुधारवादी आंदोलन आरंभ हुआ, तब दक्षिण से उमड़कर आने वाली भक्ति धारा जो वैष्णव आचार्यों के माध्यम से उत्तर भारत तक आई, हिंदू धर्म को इस्लाम धर्म की प्रतिक्रिया स्वरूप अनेक सरल व आकर्षक तत्त्वों को प्रदान किया।

2.3 वैष्णव भक्ति का उद्‌भव और विकास

हिंदू धर्म में वैष्णव संप्रदाय का एक विशिष्ट स्थान है। यह संप्रदाय किसी न किसी रूप में भारत के प्रत्येक भाग में प्रचलित है। वैष्णव धर्म विष्णु की भक्ति उपासना पर आधारित है। उसमें विष्णु के व्यापक स्वरूप की अभिव्यंजना हुई है। वैष्णव धर्म के उद्‌भव को इतिहास ने अनुमानतः व्यक्त किया है क्योंकि इतिहास के विषय में केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर के शब्दों में, ''ब्रह्मा ने जब सृष्टि का निर्माण किया, तो क्षीर सागर में सहस्रफण शेषनाग पर निद्रामग्न विष्णु जाग उठे। उन्होंने सर्वोच्च स्वर्ग में अपना निवास स्थान बनाया, जहाँ से वे सृष्टि को देखते हैं और समय–समय पर जब पापों का भार बढ़ जाता है, तो वह मनुष्य की रक्षा के लिए विविध रूप धारण करके अवतार लेकर उनके बीच आते हैं।'[46] ब्रह्मा को सृष्टिकर्ता, विष्णु को सृष्टि का संरक्षक और शिव को सृष्टि के संहारक देव के रूप में जाना जाता है। डॉ. शैल प्रधान के अनुसार, ''विष्णु सर्वप्रथम वैदिक काल में एक साधारण देवता के रूप में दिखाई पड़ते हैं। ऋग्वेद में कई स्थलों पर वे आदित्य मात्र समझे जाते हैं और दिन भर की यात्रा को केवल तीन पगों द्वारा ही पूरी कर देने के कारण ही उस युग में उनका यशोगान प्रतीत होता है।''[47] ऋग्वेद जोकि प्रथम एवं प्राचीन वेद है। उसमें विष्णु का स्थान गौण है।

डॉ. हरेंद्र प्रसाद सिन्हा ऋग्वेद में विष्णु के स्थान का उल्लेख इस प्रकार करते हैं, ''ऋग्वेद में विष्णु का स्थान गौण है। उनके विषय में केवल पाँच सूक्त आए है तथा उनके नामों का उल्लेख सौ ही बार हुआ है।''[48] ऋग्वेद में जहाँ विष्णु को गौण स्थान प्राप्त है। वहीं उत्तर वैदिक काल में विष्णु का महत्व बढ़ गया। डॉ. शैल प्रधान के अनुसार, ''यह मुख्य यज्ञ के साथ उनकी तद्रुपता के कारण हुआ। शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि विष्णु सर्वप्रथम यज्ञ फल को समझ गए और उनके द्वारा देवताओं के सिरमौर बन गए। उनका सिर उन्हीं के द्वारा कटकर सूर्य बन गया।''[49] इसी प्रकार डॉ. पी. जयरामन भी विष्णु को यज्ञ पुरुष के रूप में स्थापित करते हुए कहते हैं, ''वैदिक संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मणकाल में जब यज्ञ संस्था का अपार विकास होने लगा। ब्राह्मणयुग कर्मप्रधान युग था और कर्म का प्रमुख अंग था। इस युग में आकर विष्णु यज्ञ रूप हो गए, यज्ञो वै विष्णुः।''[50] विष्णु उत्तर वैदिक काल में यज्ञ देवता के रूप में प्रतिष्ठापित हो गए। उनका महत्त्व बढ़ गया। ऐसा माना जाता है, वैदिक काल में मंदिरों और मूर्तियों का अभाव था। डॉ. पी. जयरामन के अनुसार, ''मनुष्य प्राकृतिक और अध्यात्म शक्तियों का साक्षात् दर्शन और अनुभव करता था। अतः उसे मूर्ति जैसे प्रतीक और उसके संस्थान मंदिर की आवश्यकता नहीं थी। संभवतः देवताओं की दारू निर्मित प्रतिकृतियाँ यज्ञीय अवसरों पर बनती थी।''[51] जहाँ वैदिक काल में मूर्तियों का प्रयोग केवल यज्ञ के समय होता था, वहीं मध्यकाल में भगवान धरती पर उतर आते है और मनुष्य द्वारा उनकी रक्षा की कामना की जाती है। उन्हें मंदिरों में मूर्तियों के रूप में प्रतिष्ठापित किया जाता है। उनको भोग लगाया जाता है एवं उनका गुणगान किया जाता है। आल्वार संत पेरियाल्वार ने भी पल्लाण्डु–पल्लाण्डु (जुग–जुग जीयो) रक्षा स्त्रोत का पाठ कर भगवान नारायण की रक्षा की कामना की है।

विष्णुपुराण, ब्राह्मवैवर्तपुराण और श्रीमद्भागवतपुराण में विष्णु को सबसे उच्च स्थान देकर उनके गुणों एवं महिमा का वर्णन इस प्रकार किया गया है, ''विष्णु संरक्षक हैं, सहस्रनाम वाले हैं, उनके नामों का जप भक्त लोग हमेशा करते हैं। उनकी स्त्री लक्ष्मी, स्थान वैकुंठ और वाहन गरूड़ है। वे सुंदर, कोमल, श्यामवर्ण, चतुर्भुज है; हाथों में पंचजञ्य, सुदर्शन,

गदा, पद्म है, वक्ष पर कौस्तुभ मणि है, कभी लक्ष्मी के साथ कमल पर, कभी सर्पशय्या पर, कभी गरूड़ पर आसीन दिखाई देते हैं।''[52]

उत्तरवैदिक काल में विष्णु का मानवी स्वरूप वैष्णोपासना के रूप में प्रचलित हुआ। वैष्णव धर्म के जन्म और उत्थान के मूल में चार विचारधाराओं का योगदान रहा है। पं. रघुवीर शर्मा इन चार विचारधाराओं के विषय में कहते हैं, ''प्रथम विचारधारा के मूल स्त्रोत वैदिक देवता विष्णु थे, दूसरी विचारधारा के आधार दार्शनिक देवता नारायण थे, तीसरी विचारधारा के अधिष्ठान ऐतिहासिक देवता वासुदेव थे और चौथी विचारधारा के स्रोत आभीर देवता बाल गोपाल थे। इन चारों विचारधाराओं में वैदिक देवता 'विष्णु' को ही एक मात्र ऐसा देवता माना है जिनकी ख्याति पीड़ित मानवों के रक्षक के रूप में प्रचलित थी।''[53] यहाँ भक्ति को विष्णु, नारायण, वासुदेव, बालगोपाल चार विचारधाराओं में विभक्त किया है। तथा दूसरी ओर डॉ. पी. जयरामन वैष्णव भक्ति के विकास क्रम में विष्णु और नारायण दोनों को अभिन्न मानते हैं और दोनों को एक ही देवता के दो नामों के रूप में स्वीकार करते हैं। विष्णु को महत्तम पद प्रदान करते हुए ही उन्हें नारायण नाम दिया गया। ''विष्णु को यज्ञादि से ऊपर उठकर दैनिक जीवन के क्रियाकलापों में कल्याणकारी देवता के रूप में स्वीकार किया गया। विष्णु के संबंध में कहा गया है कि यह भूमि के देवता है वे मनुष्य को भूमि वितरित करते हैं। उनकी कृपा से ही मानव को धन सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। वे मानव का कल्याण चाहने वाले देवता हैं विष्णु गर्भ के रक्षक हैं।''[54] गर्भ रक्षक होने के फलस्वरूप इनकी उपयोगिता मानव जीवन में बढ़ जाती है। विष्णु को एक उदार, रक्षक, दानी एवं सर्वशक्तिमान देवता के रूप में चित्रित किया गया है।

सुवीरा जायसवाल ने 'वैष्णव धर्म के उद्भव एवं विकास' पर गहन अध्ययन किया है। जिसमें उन्होंने शिलालेखों, मुद्राओं, मोहरों तथा अन्य ऐतिहासिक अवशेषों से प्राप्त साक्ष्यों की सहायता ली है। पौराणिक कथा रामायण के माध्यम से सुवीरा जायसवाल स्पष्ट करती हैं, ''रामायण जिसकी रचना किसी ऋषि ने अनुमानतः ई० पू० तीसरी शताब्दी में की थी। इस समय ब्राह्मणों के धर्मशास्त्र में इंद्र को ही सर्वोच्च स्थान प्राप्त था, विष्णु को नहीं। उनके देवत्वरोपण तथा विष्णु के साथ उनकी अभिन्नरूपता की प्रस्थापना परिवर्धित प्रतिपत्तांशों

द्वारा बाद में की गई।''[55] रामायण के बाद महाभारत को वैष्णव धर्म की जानकारी देने में दूसरा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। विद्वानों ने विष्णु और नारायण दोनों को एक ही स्वीकार किया है। डॉ. पी. जयरामन कहते हैं, कि वैदिक विष्णु एवं नारायण का ही विकसित समीकृत रूप महाभारत काल में हमें मिलता है। जहाँ उन्हें महत्तम पद प्रदान किया गया है। भले ही नारायण का उल्लेख वेदों में नहीं किया गया है, महाभारत में आकर नारायण की सर्वोपरिता सिद्ध की गई है। महाभारत में विष्णु को नारायण कहकर उनके महत्व का गुणगान किया गया है।''[56] कहने का आशय है विष्णु और नारायण अलग–अलग नहीं है अपितु एक ही रूप के दो नाम है विष्णु का गुणगान करते हुए उन्हें नारायण नाम से संबोधित किया गया है। ''नारायण का उल्लेख सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में हुआ है। यह माना जाता है कि जिस प्रकार क्रमशः वैदिक देवता रूद्र और अवैदिक देवता शिव शंकर का समीकरण हुआ उसी प्रकार वैदिक विष्णु तथा अवैदिक नारायण का भी समीकरण कालांतर में हो गया। यह समीकरण प्रक्रिया महाभारत में आकर पूर्ण हो गई।''[57]

विष्णु को श्रेष्ठ स्थान पर पहुँचाने में भृगु ऋषि के योगदान को स्पष्ट करते हुए सुवीरा जायसवाल कहती हैं, ''भागवत पुराण में वर्णित है कि ऋषियों ने भृगु को किस प्रकार देवताओं में सबसे श्रेष्ठ का पता लगाने का कार्य सौंपा था। उन्होंने ब्रह्मा, शिव और विष्णु तीन देवताओं का साक्षात्कार किया और अंत में नारायण विष्णु को सर्वश्रेष्ठ घोषित कर दिया।''[58]

वैष्णव धर्म एवं भक्ति के उद्‌भव के विषय में केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है लेकिन प्राचीन वैदिक काल से लेकर वर्तमान काल तक इसका विकास निरंतर होता रहा है। ऋग्वेद में जहाँ इंद्र को सर्वोच्च स्थान प्राप्त होता है। तथा विष्णु गौण देवता होता है। वहीं उत्तर वैदिक काल में आकर यज्ञों की महत्ता के फलस्वरूप ब्राह्मणों द्वारा इन्हें सर्वोच्च पद प्राप्त हो जाता है। पं. रघुवीर शर्मा कहते हैं, ''वैष्णव धर्म आर्यों की धार्मिक व्यवस्था की ही उपज है। यह पूर्णरूपेण आर्यमत है।''[59] वैष्णव धर्म एक आस्तिकवादी मत है जहाँ विष्णु के व्यापक स्वरूप की अभिव्यंजना हुई है। भारत की धार्मिक परंपरा में इसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।

2.4 वैष्णव संप्रदाय : पांचरात्र मत

विष्णु भक्ति प्रधान वैष्णव धर्म का प्राचीन नाम भागवत धर्म या पांचरात्र मत है। इस संप्रदाय के प्रधान उपास्य वासुदेव हैं जिन्हें ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य, ऐश्वर्य और तेज इन छः गुणों से सम्पन्न होने के कारण भगवान या भागवत कहा गया है। पांचरात्र सिद्धांत का संबंध ऋग्वेद के पुरुष सूक्त से है। पांचरात्र मत का विकास तीसरी शती ई० पू० माना जाता है। ''इस सिद्धांत के अनुसार सकल विश्व का बीज प्रलय के रूप में भगवान वासुदेव में समाहित है। पांचरात्र में परम तत्व मुक्ति युक्ति योग और विषय जैसे पाँच पदार्थ है इसलिए पांचरात्र कहा गया है।''[60] कृष्णदत्त पालीवाल पुस्तक 'भक्तिकाव्य से साक्षात्कार' में पांचरात्र के विषय में उल्लेख करते हैं, ''नारायण के उपासकों ने नारायण को पांचरात्रिक कहा। नारदपंचतंत्र के अनुसार रात्र का अर्थ है ज्ञान। अतः पंचरात्र वह सिद्धांत और दर्शन है जिसमें ज्ञान के पाँच भेदों का विश्लेषण, विवेचन होता है। वे पाँच तरह के ज्ञान है तत्व, मुक्तिप्रद, यौगिक और वैशेषिक। इस प्रकार पांचरात्र के दर्शन का अर्थ है जो अज्ञान का नाश करे।''[61] कहने का आशय है कि नारायण को पांचरात्रिक कहा गया है। वह अज्ञान का नाश करके ज्ञान प्रदान करते हैं। डॉ. प्रशांत गौरव उल्लेख करते हैं, ''इस उपाधि का अर्थ पंचरात्र यज्ञ का कर्ता है। भगवान ने जिस धर्म की शिक्षा शांडिल्य, औपगायन, मौजायन, कौशिक तथा भारद्वाज इन पाँच ऋषियों को क्रमशः पाँच दिन, पाँच रात दी वही धर्म पांचरात्र कहलाया। रात्रि का अर्थ अज्ञान और पच् धातु से उत्पन्न पंच शब्द का अर्थ पकाने वाला या नाश करने वाला है जिस प्रकार सूर्य रात्रि को दूर भगा देता है। उसी तरह यह अन्य पाँच दर्शनों–योग, सांख्य, बौद्ध, जैन एवं पाशुपत को छिन्न भिन्न कर देता है।''[62] पांचरात्र दर्शन की विशेषता यह है कि इसमें अद्वैत की भाषा तो है पर मायावाद नहीं। पांचरात्र मत के अनुसार परब्रह्म अद्वितीय, अनादि, अनंत, सुख–दुख, देश काल से परे सर्वत्र व्यापक और नित्य है, वह सगुण–निर्गुण दोनों है।

'वैष्णव धर्म का उद्‌भव और विकास' पुस्तक में सुवीरा जायसवाल विभिन्न विद्वानों के अनुमानों का उल्लेख करती हैं, जिसमें पाँच ऋतुओं के अनुसार नरबलि देने के अर्थ में इसकी व्याख्या की गई हैं, ''शतपथ ब्राह्मण में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है नारायण का पंचरात्र पुरुष मेध या नरबलि था, और पाँच दिनों तक चलता था, इसमें बलि की गणना पिछली रात्रि से होती थी, जिसके लिए रात्र शब्द प्रयुक्त है।''[63] इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए सुवीरा जायसवाल उल्लेख करती हैं, ''ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभ में पांचरात्र का तात्पर्य उस नरबलि अनुष्ठान से था जिसके साथ नारायण का संबंध था। सभ्यता के विकास के साथ–साथ नारायण के चरित्र में भी परिवर्तन हुआ और आनुष्ठानिक नरबलि की प्रथा का त्याग कर दिया गया, किंतु देवताओं में सर्वोच्च एवं सर्वाधिक प्राचीन नारायण के अनुयायियों के साथ यह नाम जुड़ा ही रहा।''[64] कहने का तात्पर्य है कि प्रारंभ में यह मत नरबलि से जुड़ा हुआ है किंतु बाद में इसमें परिवर्तन हुआ और इस प्रथा का त्याग कर दिया।

बहुत पहले पांचरात्र और भागवत एक ही थे, किंतु बाद में दोनों में अंतर स्थापित हो गया। ''पांचरात्र का प्रधान आधार व्यूहवाद था जिसमें व्यूहों की पूजा होती थी।''[65] ''पांचरात्र लोग नारायण की उपासना करके चर्तुव्यूहात्मक रूप (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध) में करते थे।''[66] पांचरात्रिक भगवान नारायण की उपासना करते थे और भागवत लोगों के आराध्य वासुदेव थे। भागवत धर्म और पांचरात्र मत में पार्थक्य बताते हुए कृष्णदत्त पालीवाल कहते हैं, ''भागवत धर्म जातिव्यवस्था का समर्थन करता है, पांचरात्र विरोध।''[67]

प्रारंभिक काल में इस मत का खूब विरोध हुआ। बच्चन सिंह पुस्तक 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' में इस मत के विषय में कहते हैं, ''किसी ने इसे वैदिक कहा, तो किसी ने अवैदिक। मनु सात्वतों को पंचम जाति का मानते हैं – शूद्रों से भी गया बीता। सात्वत लोग राजाज्ञा से मंदिरों में पूजा–पाठ किया करते थे। उन्हें भागवत कहा जाता था, किंतु कोई भी ब्राह्मण उनके साथ एक पंक्ति में बैठकर भोजन करने को तैयार नहीं था।''[68] इस मत को अवैदिक मानने का कारण यह है कि इसमें शूद्रों और स्त्रियों को भी दीक्षा दी जाती थी।

पांचरात्र मत के साधना में भक्ति को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। ''इस मत में भक्त के व्यावहारिक अनुष्ठानों का भी विधान करते हुए पाँच विधियाँ प्रस्तुत की गई हैं : मनसा वाचा कर्मणा जप ध्यान अर्चन द्वारा भगवान के प्रति अभिमुख होना।''[69] मूर्तिपूजा, वासुदेवोपासना, शूद्रों तथा स्त्रियों को भक्ति मार्ग में दीक्षित होने का अधिकार, प्रपत्ति इसकी विशेषताएँ है। दक्षिण के आल्वार संतों में भी इन विशेषताओं को देखा जा सकता है। 'भक्ति के आयाम' पुस्तक में डॉ. पी जयरामन लिखते हैं, ''पांचरात्रिकों ने तीसरी चौथी शती ई० से लेकर सातवीं–आठवीं शती तक की अवधि में वैष्णव भक्ति आंदोलन को अत्यंत गतिशील और व्यापक बनाया; इसी का परिणाम था तमिलनाडु के वैष्णव भक्त कवि आल्वारों की विष्णु भक्तिपरक रचनाओं का विपुल मात्रा में निर्माण।''[70] इस पांचरात्र परंपरा का विकास करने का श्रेय श्री वैष्णव संप्रदाय के आचार्यों को जाता है। यमुनाचार्य, रामानुज, रामानंद आदि आचार्यों ने इस मत का व्यापक प्रचार–प्रसार किया।

2.5 आल्वार संत : प्रपत्ति सिद्धांत

वैष्णव साहित्य को प्रपत्ति सिद्धांत की देन वास्तव में दक्षिण के आल्वार संतों की देन है। आल्वार साहित्य में निरूपित प्रपत्तिमूलक शब्द का अर्थ भगवान के प्रति सम्पूर्ण समर्पण है, 'Prapatti- A term for surrender to God or resignation to the world of God. Prapatti involves self control along with faith. Its aspects include : **Anukuluasampattih**, which indicates the acquiring of qualities which would be pleasing to God ; **Pratikulyasya Varjanam;** avoiding actions unacceptable to God, **Rakshisyatiti Vishvasah;** faith in the protective power of God, **Goptrivavaranam;** appeal for protection, **Karpanyam;** a feeling of one's own insignificances, **Atmasamarpan;** total surrender. This last is the same as Prapatti.'[71] आल्वार साहित्य में निरूपित प्रपत्ति के क्रमशः छः तत्व माने गए हैं–अनुकूलस्य संकल्पः, प्रतिकूल्यस्यवर्जनम्, रक्षिश्यतिति विश्वासः, गोपतृत्ववरणं, कार्पण्याम् तथा आत्मविक्षेपः। प्राचीन शास्त्रकारों जो प्रपत्ति मार्ग का अनुसरण करता है। वह उपर्युक्त छः तत्वों में से किसी भी एक

तत्व का पालन कर सकता है। प्रपत्तिमूलक शब्द के नामकरण का श्रेय वैष्णव आचार्य रामानुज को दिया जाता है। रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार, ''रामानुजाचार्य ने जहाँ आत्मसमर्पण पर जोर दिया है वहीं, दूसरी ओर मुक्ति के लिए सदाचार और सत्कर्मों के महत्त्व पर भी जोर दिया गया है।''[72] रामानुजाचार्य द्वारा निरूपित कर्म की महत्ता तथा आत्मसमर्पण की आवश्यकता में परस्पर भेद के कारण ही विशिष्टाद्वैत के अंतर्गत दो भिन्न शाखाओं का निर्माण हुआ जो उत्तरी एवं दक्षिणी शाखाएँ कहलाई। यह दो शाखाएँ वड़कले और तैंकले नाम से प्रसिद्ध हैं।

तमिल भाषा में वड़कले मर्कट को कहते हैं और तैंकले मार्जार को। शाखाओं का यह नामकरण ईश्वर और जीव के परस्पर संबंध का प्रतीक है। ''मर्कट न्याय के अनुसार ईश्वर प्राप्ति के लिए जीव को प्रयत्न करना आवश्यक है। जीव का यह प्रेम मर्कट बच्चे के समान है। जिस प्रकार मर्कटी अपने बच्चे के लिए वात्सल्य विद्यमान होते हुए भी उसके बच्चे को स्वरक्षा के लिए उसका आश्रय लेना पड़ता है अर्थात् उसके पेट से दृढ़ता से चिपक जाना पड़ता है ठीक, उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति के लिए जीव को भी वात्सल्य के असीम आगार ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए निरंतर प्रयास करना आवश्यक है।''[73] इस शाखा के अनुयायी मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म करने को आवश्यक मानते हैं। ईश्वर को प्राप्त करने के लिए निरंतर प्रयास करना तथा कर्मरत रहना, उत्तर भारत के संत कवियों द्वारा स्वीकार किया गया है। सूर, तुलसी, मीरा और अष्टछाप के कवियों में सर्वत्र इसी भावना के दर्शन होते हैं।

तैंकले शाखा ने मार्जार न्याय को स्वीकार किया है इस शाखा के अनुयायी मानते हैं, ''मोक्ष प्राप्ति के लिए ईश्वर की असीम कृपा को प्राप्त करने का साधन केवल प्रपत्ति मानकर प्रयत्न का खंडन किया। इस न्याय के अनुसार जिस प्रकार मार्जरी स्वंय ही अपने बच्चे को उठाकर सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देती है उसी प्रकार ईश्वर जीव के प्रयत्न किए बिना ही अपनी कृपा शक्ति से उसे मोक्ष प्रदान करता है।''[74] दक्षिण के आल्वार संत पूर्णरूपेण मार्जार न्यायवादी कवि थे तथा इसी न्याय को महाराष्ट्र में भी मान्यता मिली।

कुछ विद्वानों ने प्रपत्तिमूलक भावना को विदेशी माना है। इसका निराकरण करते हुए एवं प्रपत्ति सिद्धांत को पूर्णतः देशज स्वीकार करते हुए रामधारी सिंह दिनकर कहते हैं, ''प्रपत्ति के सिद्धांत के बारे में कहा जाता है कि यह इस्लाम का प्रभाव था। किंतु रामानुज को यह विचार इस्लाम से नहीं मिला (इस्लाम तब तक भारत में फैला कहाँ था?) यह तो आल्वारों की शरणागति का रामानुज के द्वारा किया गया पारिभाषित नाम था।''[75]

2.6 अष्टछाप कवि : पुष्टिमार्ग

शुद्वाद्वैतवाद के प्रवर्तक वैष्णव संत वल्लभाचार्य ने भक्ति को प्रेमलक्षणात्मक माना है। वल्लभाचार्य का शुद्वाद्वैत शंकर मत का विरोधी था। शंकर ने ब्रह्म को माया रूप माना है। वल्लभाचार्य ने माया रहित होने के कारण उसे शुद्ध माना हैं। वल्लभाचार्य के मत को पुष्टिमार्ग कहते हैं। ''पोषण का अर्थ भगवान का अनुग्रह है। इस मत में भगवान के अनुग्रह के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। भगवान के पोषण (अनुग्रह) को अधिक महत्व देने के कारण ही यह मत पुष्टिमार्ग कहलाता है।''[76] पुष्टिमार्गीय भक्ति को प्रेम का दृढ़ मानते हुए डॉ. हरिश्चंद्र मिश्र कहते हैं, ''यह प्रेम ईश्वर की कृपा पर ही सुलभ है। इस संदर्भ में भी प्रेम अपने आप में मूल्यवान है—क्योंकि यह ईश्वर के अनुग्रह का प्रतिफल है।''[77]

भगवान जीवों पर अनुग्रह करने के लिए अवतार रूप में प्रकट होते हैं। वल्लभाचार्य ने जीव को तीन प्रकार की श्रेणी में विभक्त किया है। पुष्टि जीव, मर्यादा जीव और प्रवाह जीव। ''ईश्वर का चिंतन न करके निरूद्देश्य जीवन बीताने वाले जीव प्रवाह जीव हैं। वेदानुसार जीवन व्यतीत करने वाले जीव मर्यादा जीव हैं। तथा जो जीव ईश्वर की विशेष कृपा के लिए पात्र है तथा ईश्वर से अनन्य प्रेम करके उसकी शरण में रहते हैं वे है पुष्टि जीव। इन तीनों में पुष्टि जीव सर्वोत्तम हैं।''[78] पुष्टि जीव अपना सर्वस्व प्रभु को समर्पण कर उनकी शरण में रहते हैं। पुष्टि भक्ति को भी उन्होंने चार प्रकार का बताया है – ''प्रवाह पुष्टि भक्ति, मर्यादा पुष्टि भक्ति उन लोगों के लिए है जो सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए भी भगवान की भक्ति करना चाहते हैं। मर्यादा पुष्टि भक्ति विरक्त जीवों के लिए है, जो ईश्वर की

कृपा से भक्त बनते हैं। और तत्पश्चात् उसी की कृपा से तत्त्वज्ञानी बन जाते है और शुद्ध पुष्टि वह है जिसके कारण जीव ईश्वर से अमित प्रेम करता है।''[79] श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों की भक्ति को शुद्ध पुष्टि भक्ति माना जाता है।

पुष्टिमार्ग में किसी प्रकार के साधन या कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं होती। नवधा भक्ति, साधन भक्ति या मर्यादा भक्ति में भजन पूजन आदि की आवश्यकता होती है, किंतु पुष्टिमार्गीय भक्ति में माधुर्यभाव की भक्ति को प्रेम का दृढ़ आधार माना जाता है। डॉ. पूरनचंद टंडन पुष्टिमार्गीय भक्ति के तीन फलों का वर्णन इस प्रकार करते हैं, ''1. रसरूप पुरुषोत्तम कृष्ण के स्वरूपानंद की शक्ति प्राप्त कर उनकी लीला में प्रविष्ट होना। 2. पूर्ण पुरुषोत्तम में श्री अंग अथवा आभूषणादि का अंग बनना। 3. प्राकृत–शारीरिक इंद्रिय आदि से मुक्त होकर अप्राकृत शरीर से भगवान के बैकुंठ आदि लोकों में भोग की स्थिति प्राप्त करना।''[80] अष्टछाप कवि ब्रज क्षेत्र के गोवर्धन पर्वत पर स्थित श्रीनाथ भगवान की सेवा में आठों याम समर्पित रहते थे।

मर्यादा मार्ग में जिस प्रकार भक्त विविध क्रियाओं एवं परिपाटियों से बँधा हुआ अनुभव करता है, उसी प्रकार भगवान भी। पं. रघुवीर शर्मा कहते हैं, ''मर्यादा मार्ग में भगवान साधन परतंत्र रहता है, स्वतंत्र नहीं क्योंकि इस मार्ग में भगवान को अपनी बँधी मर्यादाओं की रक्षा करनी अभिष्ट होती है। पुष्टिमार्ग में वह किसी साधन का परतंत्र न होकर स्वयं स्वतंत्र होता है।''[81] कहने का तात्पर्य है पुष्टिमार्ग भक्ति में भक्त और भगवान दोनों ही हर प्रकार के बंधन से मुक्त होते हैं।

'भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य' पुस्तक में मैनेजर पाण्डेय निष्कर्षतः कहते हैं, ''इसमें न तो कठोर कर्मवाद की जड़ता है और न थोथे ज्ञानवाद की उलझी हुई पहेलियाँ। इसमें नीरस भक्तिवाद का आडम्बर भी नहीं है। वल्लभाचार्य जी की भक्ति पद्धति साधना पद्धति है। जिसमें रसरूप पुरोषोत्तम कृष्ण से संबंद्ध दास्य, वात्सल्य, रसवादी सख्य और गोपियों के संयोग–वियोग के मधुर रस का पूर्ण सामंजस्य है।''[82] पुष्टिमार्गीय भक्ति में गुरू की महानता और सत्संग की महिमा को स्वीकार किया गया है। इसलिए अष्टछाप के

सभी कवियों ने मुक्त कंठ से गुरू की महिमा का गान किया है। सत्संग की महिमा के साथ–साथ गोपियों के शुद्ध प्रेम को महत्त्व दिया गया है।

संदर्भ सूची–

1. प्रशांत गौरव; पूर्व मध्यकालीन भारत (लगभग 500–1200ई०), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं.–2009, पृ.–169.
2. सुवीरा जायसवाल; वैष्णव धर्म का उद्‌भव और विकास, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, तीसरा सं.–2005, पृ.– 119.
3. प्रो. ताराचंद; भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव, (अनुवादकः सुरेश मिश्र), ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, सं.– 2006, पृ.–35.
4. डॉ. ना. सुंदरम्; मीरा और आण्डाल का तुलनात्मक अध्ययन, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं.–1971, पृ.–5 (उद्धरण, नारद भक्ति सूत्र 2,3 गीताप्रेस गोरखपुर)
5. वही, पृ.– 20.
6. सं. विश्वनाथ शुक्ल; भक्ति मीमांसा, विवेक पब्लिकेशन्स, अलीगढ़, सं.–1970, पृ.–25.
7. वही, पृ.–38.
8. डॉ. शेलेन्द्र मोहन झा; ब्रजबोली साहित्य, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृ.–220.
9. डॉ. हरिश्चंद्र मिश्र; भक्तिकालीन कृष्ण काव्य और मानवमूल्य, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, सं.–2005, पृ.–100.
10. प्रो. ताराचंद; भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव, (अनुवादकः सुरेश मिश्र), ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, सं.– 2006, पृ.–35.
11. विजयेंद्र स्नातक; हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रथम सं. 2009, पुनर्मुद्रण 2012, साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली–110001, पृ. 31.
12. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, चौथा सं. –2011, पृ.–346.
13. राजमल बोरा; भारतीय भक्ति साहित्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं.–1994, पृ.–19.
14. सं. हरिश्चंद्र वर्मा; मध्यकालीन भारत (भाग–1, 750–1540 ई०), हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, तृतीय संस्करण–1997, पृ.–415.

15. सतीशचंद्र; मध्यकालीन भारत में इतिहास लेखन, धर्म और राज्य का स्वरूप, अनुवादकः एन.ए.खान 'शाहिद', सं.1999, पुनर्मुद्रण 2007, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, बी–7, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092, पृ.–87.
16. वही, पृ.–87.
17. एच. लाल; भारत के आदिनिवासियों का इतिहास, खण्ड़–1, प्रथम खण्ड़ 1973, दूसरा सं. 2003, त्रिवेनी प्रकाशन, 1/4006, रामनगर विस्तार, शाहदरा, दिल्ली–110032. पृ. –79.
18. सतीशचंद्र; मध्यकालीन भारत में इतिहास लेखन, धर्म और राज्य का स्वरूप, अनुवादकः एन.ए.खान 'शाहिद', सं.1999, पुनर्मुद्रण 2007, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, बी–7, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092, पृ.–90.
19. सतीशचंद्र; मध्यकालीन भारत (सल्तनत से मुगलकाल तक) दिल्ली सल्तनत 1206–1526, प्रथम सं. 2000, पुनर्मुद्रण 2007, जवाहर पब्लिशर्स एंड़ डिस्ट्रीब्यूटर्स, 15, डी.डी.ए, मार्केट बेर सराय, नई दिल्ली–110016, पृ.–255–256.
20. हजारीप्रसाद द्विवेदी; हिंदी साहित्य की भूमिका, सं. 2012, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ.–18.
21. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, पृ.–244.
22. डॉ. रामचंद्र वर्मा; हिंदी साहित्य युग एवं प्रवृत्तियों का विकास, कला मंदिर, 1687, नई सड़क, दिल्ली–110006, पृ.–73.
23. वही, पृ.–73
24. सं. हरिश्चंद्र वर्मा; मध्यकालीन भारत (भाग–1, 750–1540 ई०), हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, तृतीय संस्करण–1997, पृ.–436.
25. वही, पृ.–436.
26. प्रो. ताराचंद; भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव, (अनुवादकः सुरेश मिश्र), ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, सं.– 2006, पृ.–89
27. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं.–1975, पृ.–169.

28. प्रो. ताराचंद; भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव, (अनुवादकः सुरेश मिश्र), ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, सं.– 2006, पृ.–111.
29. प्रशांत गौरव; पूर्व मध्यकालीन भारत (लगभग 500–1200 ई०), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं.–2009, पृ.–171
30. शहाबुद्दीन इराकी; मध्यकालीन भारत में भक्ति आंदोलन (सामाजिक एवं राजनैतिक परिप्रेक्ष्य), चौखम्बा सुभारती प्रकाशन, वाराणसी, सं.–2012, पृ.–74.
31. वही, पृ.–74.
32. रामविलास शर्मा; भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, सं. –2012, पृ.–52,53.
33. डॉ. रामकुमार वर्मा; हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (संवत् 750–1750), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, आठंवा सं.–2012, पृ.–198.
34. डॉ. बच्चन सिंह; हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पहला सं.–1996, चौथी आवृति–2012, पृ.–81.
35. डॉ. रामविलास शर्मा; परंपरा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं.–2011, पृ. –60.
36. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं.–1975, पृ.–278.
37. डॉ. मलिक मोहम्मद; वैष्णव भक्ति आंदोलन का अध्ययन, सं. 1971, राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ.–357.
38. डॉ. रामविलास शर्मा; परंपरा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं.–2011, पृ. –63.
39. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, पृ.–315.
40. डॉ. मलिक मोहम्मद; वैष्णव भक्ति आंदोलन का अध्ययन, सं. 1971, राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ.–359.
41. राजमल बोरा; भारतीय भक्ति साहित्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं.–1994, पृ.–92.
42. डॉ. रामचंद्र वर्मा; हिंदी साहित्य युग एवं प्रवृत्तियों का विकास, कला मंदिर, 1687, नई सड़क, दिल्ली–110006, पृ.–84.

43. आचार्य रामचंद्र शुक्ल; हिंदी साहित्य का इतिहास, सं. 2010, अशोक प्रकाशन, 2615, नई सड़क, दिल्ली–6, पृ.–35.
44. हजारीप्रसाद द्विवेदी; हिंदी साहित्य की भूमिका, सं. 2012, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ.–16.
45. वही, पृ. 52–53.
46. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं.–1975, पृ.–120.
47. डॉ. शैल प्रधान; भारतीय कला में वैष्णव परंपरा, नेशनल सेंटर फोर ओरियेंटल स्टडीज, दिल्ली, सं.–1992, पृ.–37
48. डॉ. हरेंद्र प्रसाद सिन्हा; भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, बंगला रोड़ दिल्ली–5 द्वारा प्रकाशित, पंचम संशोधित सं.–1993, पृ.–43
49. डॉ. शैल प्रधान; भारतीय कला में वैष्णव परंपरा, नेशनल सेंटर फोर ओरियेंटल स्टडीज, दिल्ली, सं.–1992, पृ.–39.
50. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं.–2003, पृ.–29.
51. वही, पृ.–30.
52. के. भास्करन नायर; हिंदी और मलयालम में कृष्ण भक्ति काव्य, राजपाल एण्ड़ सन्स, दिल्ली, सं.–1960, पृ.–54
53. पं. रघुवीर शर्मा; वैष्णव धर्म एवं दर्शन, आभा प्रकाशन, दिल्ली, सं.–1997, पृ.–13.
54. डॉ. हरेंद्र प्रसाद सिन्हा; भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, बंगला रोड़ दिल्ली–5 द्वारा प्रकाशित, पंचम संशोधित सं.–1993, पृ.–43
55. सुवीरा जायसवाल; वैष्णव धर्म का उद्‌भव और विकास, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, तीसरा सं.–2005, पृ.–8.
56. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं.–2003, पृ.–34.
57. वही, पृ.–35.
58. सुवीरा जायसवाल; वैष्णव धर्म का उद्‌भव और विकास, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, तीसरा सं.–2005, पृ.–9.
59. पं. रघुवीर शर्मा; वैष्णव धर्म एवं दर्शन, आभा प्रकाशन, दिल्ली, सं.–1997, पृ.–14.

60. डॉ. शैल प्रधान; भारतीय कला में वैष्णव परंपरा, नेशनल सेंटर फोर ओरियेंटल स्टडीज, दिल्ली, सं.–1992, पृ.–45.
61. कृष्णदत्त पालीवाल; भक्तिकाव्य से साक्षात्कार, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पहला सं. –2007, पृ.–24.
62. प्रशांत गौरव; पूर्व मध्यकालीन भारत (लगभग 500–1200ई०), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं.–2009, पृ.–186.
63. सुवीरा जायसवाल; वैष्णव धर्म का उद्‌भव और विकास, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, तीसरा सं.–2005, पृ.–41
64. वही, पृ.–42.
65. डॉ. शैल प्रधान; भारतीय कला में वैष्णव परंपरा, नेशनल सेंटर फोर ओरियेंटल स्टडीज, दिल्ली, सं.–1992, पृ.–45.
66. कृष्णदत्त पालीवाल; भक्तिकाव्य से साक्षात्कार, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पहला सं. –2007, पृ.–25.
67. वही, पृ.–25.
68. डॉ. बच्चन सिंह; हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पहला सं.–1996, चौथी आवृति–2012, पृ.–114.
69. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं.–2003, पृ.–61.
70. वही, पृ.–62.
71. Roshan Dalal, Hinduism: An Alphabetical Guide, Penguine books, India, 2011, P-313.
72. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तीसरा सं.–2010, पृ.–273.
73. डॉ. र. श. केलकर; मराठी और हिंदी कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, सं.–1966, पृ.–81.
74. वही, पृ.–81.

75. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तीसरा सं.–2010, पृ.–273.
76. सं. हरबंश लाल शर्मा; सूरदास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा सं.–2011, पृ.–270.
77. डॉ. हरिश्चंद्र मिश्र; भक्तिकालीन कृष्णकाव्य और मानवमूल्य, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, सं.–2005, पृ.–87.
78. डॉ. र. श. केलकर; मराठी और हिंदी कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, सं.–1966, पृ.–126.
79. वही, पृ.–127.
80. डॉ. पूरनचंद टंडन; हिंदी साहित्य का इतिहास (आदिकाल से रीतिकाल), जगतराम एण्ड़ सन्स, दिल्ली, सं.–2010, पृ.–170.
81. पं. रघुवीर शर्मा; वैष्णव धर्म एवं दर्शन, आभा प्रकाशन, दिल्ली, सं.–1997, पृ.–164.
82. डॉ. मैनेजर पाण्डेय; भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, सं.–2007, आवृत्ति संस्करण–2012, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–245.

तृतीय अध्याय – आल्वार संत : पर्यालोचन

3.1 आल्वार भक्ति का स्वरूप एवं समय

3.2 आल्वार संतों का साहित्यिक परिचय

पोयगै आल्वार, भूत्ततू आल्वार, पेयाल्वार, तिरुमलिशै आल्वर, नम्माल्वार, मधुर कवि आल्वार, कुलशेखर आल्वार, पेरियाल्वार, आण्डाल, तोण्डरअडिप्पोडि आल्वार, तिरुप्पाण आल्वार, तिरुमंगै आल्वार

3.3 आल्वार संतों का नालायिर दिव्य प्रबंधम्

3.4 श्रीमद्भागवत और नालायिर दिव्य प्रबंधम्

3.5 आल्वार संतों के काव्य का दार्शनिक आधार– ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, मोक्ष

3.6 दक्षिण भारत में वैष्णव भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि

3.6.1 दक्षिण भारत की राजनीतिक परिस्थितियाँ

3.6.2 दक्षिण भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ

3.6.3 दक्षिण भारत की आर्थिक परिस्थितियाँ

3.6.4 दक्षिण भारत की धार्मिक परिस्थितियाँ

3.6.5 दक्षिण भारत की कलागत एवं साहित्यिक परिस्थितियाँ

तृतीय अध्याय

आल्वार संत : पर्यालोचन

3.1 आल्वार भक्ति का स्वरूप

द्रविड़ प्रदेश में उत्पन्न वैष्णव भक्त 'आल्वार' कहलाते हैं। ''आल्वार शब्द का अर्थ भगवत्प्रेमसागर में डूबनेवाले अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान के मूल–तत्व तक पहुँचकर उनके ध्यान में मग्न रहने वाले हैं।''[1] वैष्णव भक्त आल्वार संख्या में बारह हैं। मध्यकालीन ब्रजभाषा काव्य में कृष्णभक्ति की धारा को प्रभावित करने का श्रेय दक्षिण के आल्वार संतों को है। अधिकांश आल्वारों की भक्ति शांत, दास्य, वात्सल्य एवं माधुर्य भक्ति है। आल्वारों के यहाँ सर्वप्रथम ईश्वर को मनुष्य के रूप में ढालने की कोशिश की गई है। आल्वारों ने ईश्वर के मंगल की कामना की है। इनके बालकृष्ण जग का कल्याण करते हैं। आल्वारों ने श्रीमन्नारायण के स्वरूप, गुण और लीला का अनुभव नाना प्रकार से किया है। कभी परब्रह्म और बैकुंठस्थ वासुदेव का अनुभव करते हैं, तो कभी क्षीरसागरशयी व्यूहरूप का अनुभव, कभी मत्स्य, कूर्म, वामन, नरसिंह, राम, कृष्ण आदि विभवावतारों का अनुभव करते हैं, तो कभी श्रीरंग, वेंकटाचल, वृंदावन, बदरीनाथ आदि क्षेत्रों में विराजमान क्रमशः भगवान श्रीरंगनाथ, श्रीवेंकटेश्वर, श्रीमुरलीधर, नारायण आदि अर्चावतारों के रूप में अनुभव करते हैं। पोयगे आल्वार, भूत्ततू आल्वार, पेयाल्वार ने विष्णु के वामनावतार की उपासना की तथा तिरूपति के वेंकटाद्रिनाथ के साथ–साथ भगवान शिव का भी उल्लेख किया है। उनके पदों में कृष्णभक्ति का लीलामय स्वरूप नहीं पाया जाता। तिरुमलिशै आल्वार 7वीं शताब्दी के संत हैं। जिन्होंने कृष्ण के लीलामय स्वरूप का गुणगान किया है। इसी प्रकार नम्मालवार तथा मधुरकवि आल्वार ने कृष्ण की दास्य भाव की भक्ति की है। कुलशेखर आल्वार ने वात्सल्य एवं सांख्य भाव से विष्णु के राम अवतार का वर्णन किया है तथा उनके लीलामय पदों का गुणगान किया है। पेरियाल्वार ने वात्सल्य भाव से कृष्ण की उपासना की। बालकृष्ण की विविध छवियों, लीलाओं

का वर्णन करने के साथ–साथ 'पल्लाण्डु–पल्लाण्डु' (जुग–जुग जीयो) कहकर कृष्ण की रक्षा की कामना की है। पेरियाल्वार की दत्तक पुत्री आण्डाल बारह आल्वार संतों में अकेली महिला संत है। आण्डाल ने कृष्ण की माधुर्य भाव से उपासना की है। तत्पश्चात् तोण्डरअडिपोडि आल्वार भगवान श्रीरंगनाथ की महत्ता का गुणगान करते हैं। ये आल्वार संत दास्य भाव से श्रीरंगनाथ की भक्ति करते हैं। तिरूमंगै की भक्ति दास्य एवं माधुर्य भाव की भक्ति है। एक ओर वह प्रभु के दास बने हुए हैं, वहीं दूसरी ओर श्रीरंगनाथ के विरह में तड़पते हुए नजर आते हैं। स्वंय को भगवान श्रीरंगनाथ की नायिका मानते हुए उनका विरह आल्वार के लिए असहनीय है। संत परकाल का एक विलक्षण अनुभव है। युद्ध में हारे गए रावण के सैनिक बनकर श्रीरामचंद्र से करुणा की प्रार्थना करते हैं। आल्वार संतों के अनुभव भी विचित्र हैं– कभी भक्त के रूप में, कभी पिता दशरथ के रूप में, कभी कौशल्या, यशोदा, देवकी आदि माताओं के रूप में , कभी नायिका के रूप में– वह भी संयोग और विरह की दशा में।

आल्वारों का समय

विद्वानों की मान्यता के अनुसार भक्ति का जो स्वरूप पिछले लगभग एक–डेढ़ हजार साल से प्रचलन में है। उसका मूल वैदिक स्रोतों में नहीं पाया जाता। ''आर्य जब भारत में आए तब यहाँ एक समृद्ध सभ्यता और संस्कृति फल फूल रही थी और आर्यों ने धार्मिक या आध्यात्मिक शून्य में प्रवेश नहीं किया था। आर्येत्तर संस्कृति या संस्कृतियों में से मुख्य धारा थी; एक साधना तपस्या को केंद्रीभूत कर सामान्य जीवन से उच्चत्तर मूल्यों का अन्वेषण करने वाली 'यति' या 'श्रमण' धारा थी और दूसरी थी किसी लोकोत्तर शक्ति या देवता के साथ रागात्मक संबंध सूत्र में बंधकर उसकी उपासना करने वाली भक्ति धारा! कालांतर से जैन और बौद्ध धर्म ने श्रमण धारा का उत्तराधिकार ग्रहण किया और शैव, शाक्त, वैष्णव आदि ने भक्ति धारा का।''[2] आल्वार संतों का समय छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक माना जाता है। पाँचवी और छठी शताब्दी में आकर जैन एवं बौद्ध धर्म के नैतिक आचरण का पतन होने लगा। जिसके परिणामस्वरूप तमिल प्रदेश में एक ऐसा मार्ग दिखाया जिसमें आत्मशांति और यज्ञादि

धार्मिक कर्मकांडो से मुक्ति प्राप्त हो। युग की इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए वैष्णव आल्वार तथा शैव नायनमार संतों का विशेष योगदान रहा। डॉ. ना. सुंदरम् आल्वार संतों के पदों की तमिल शैली को ध्यान में रखकर निश्चित रूप से कहते हैं, ''आल्वारों का समय तमिल साहित्य के 'तृतीय संघोत्तर' काल के उपरांत ही है क्योंकि ये समस्त संत कवि अपनी रचना की भाषा, पद के अंत में 'संगत् तमिल' घोषित करते हैं।''[3] दक्षिण वैष्णव सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य नाथमुनि ने उक्त बारह आल्वारों के गीतों का संग्रह तथा संपादन किया जो ''नालायिर दिव्य प्रबंधम्''[4] के नाम से प्रसिद्ध है।

3.2 आल्वार संतों का साहित्यिक परिचय

भक्ति की धारा को प्रवाहित करने का श्रेय दक्षिण के आल्वार संतों को है। जिन्होंने शंकर के मायावाद का खंड़न किया। आल्वार संतों ने गाँव–गाँव घूमकर वैष्णव भक्ति का प्रसार किया तथा भक्ति का मार्ग सभी वर्ण के लोगों के लिए सुगम बना दिया। साख्य, माधुर्य, वात्सल्य एवं दास्य आदि भक्ति भाव के दर्शन आल्वार संतो के पदों में होते हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

पोयगै आल्वार

पोयगै आल्वार प्रथम आल्वार संत हैं। इन्होंने त्रिविक्रम वामन, वाराह, नृसिंह आदि अवतारों का गुणगान किया है। ''तिरूपति के वेंकटाद्रिनाथ पर इनका विशेष मोह है।''[5] विष्णु के वाराह अवतार की अर्चना का एक कारण सुवीरा जायसवाल अपनी पुस्तक 'वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास' में बताती हैं, ''ई० सन् की छठी शताब्दी के प्रारंभ होने तक वैष्णव धर्म दक्षिण में काफी प्रगति कर चुका था। पहले चालुक्य राजा भी विष्णु के उपासक थे। उनके प्रलेखों का प्रारंभ विष्णु के वाराहावतार की स्तुति से होता है। उनकी मोहरों एवं सिक्कों पर भी वाराह का चित्र अंकित है।''[6] प्रथम तीन आल्वारों का समय छठी शताब्दी के आसपास का माना जाता है। छठी शताब्दी में दक्षिण क्षेत्रों में चोलों और पल्लवों के बीच शत्रुता रही।

प्रथम तीन आल्वार के पदों में पल्लव राजा, नृसिंह पल्लव द्वारा निर्मित 'ममल्लपुर' का उल्लेख मिलता है। वास्तुकला में भी नृसिंह का वर्णन मिलता है। छठी शताब्दी में उत्पन्न प्रथम तीन आल्वारों में पोयगै आल्वार का जन्म कांचीपुरम के निकट ब्राह्मण परिवार में हुआ। पोयगै आल्वार का अनुदित संस्कृत नाम सरोयोगिन है। इन्होंने तिरूवंतादि की रचना की जिसमें भक्ति के 100 पद हैं। प्रपत्ति की भावना को प्रस्तुत करता उनका ये पद उनकी एकनिष्ठता को प्रकट करता है ''भगवान नारायण बैकुंठपति है। वे पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु एवं आकाश–इन पाँच भूतों के रूप में है। पुण्डरीकाक्ष भगवान नारायण ही तो थे जिन्होंने मगर की पकड़ में फँसे बड़े आकार के गजेन्द्र को उससे बचाया–इस प्रकार गजेन्द्र ऐरावत को मोक्ष प्रदान किया। आल्वार अपने मन से कहते हैं कि रे मन! तुम इस बात को समझो कि भगवान नारायण आश्रितों के नितराम् रक्षक है''[7] पोयगै आल्वार ने काव्य में हरि और हर की एकता का प्रतिपादन किया है। नाम चाहे अलग हो शिव अथवा नारायण, उनके वाहन चाहे अलग हो ऋषभ अथवा गरूड़, दोनों एक ही है। इनके बाद के आल्वार संतों में यह भावना लुप्त होती गई क्योंकि उन्होंने केवल नारायण को ही स्तुति का आधार बनाया।

भूत्ततू आल्वार

भूत्ततू आल्वार जिनका अनुदित संस्कृत नाम भूतयोगिन हैं। द्वितीय आल्वार संत हैं। इनका जन्म महाबलिपुरम् में ब्राह्मण परिवार में हुआ। इन्हें विष्णु की गदा का अवतार माना जाता है। इनकी रचना इरंडाम तिरूवंतादि है। जिसमें भक्ति के 100 पद हैं। भूत्ततू आल्वार की भक्ति एकांत अन्नयभक्ति है, इसमें साधक का प्रेम और उसकी भावनाएँ एकोन्मुखी हो जाती हैं। ''हे शुद्ध मन! तुम यह समझ लो कि पुरुषोत्तम भगवान नारायण के श्रीचरणों की शरण में पहुँचना सर्वोत्तम है। सुंदर कमलपुष्पों से उन श्रीचरणों की पूजा करना श्रेष्ठ है। सिर नवाते हुए विनम्रतापूर्वक पुष्पार्चन तथा स्तुति कर, भगवान नारायण के सहस्र नामों का सर्वदा स्तवन करने की तपस्या सर्वथा उपयुक्त है।''[8]

पेयाल्वार

तृतीय आल्वार संत पेयाल्वार का संस्कृत नाम महायोगिन् है। इनका जन्म मद्रास (वर्तमान चैन्नई) माना जाता है। ये ब्राह्मण जाति में जन्में थे। इन्हें विष्णु के खड़ग का अवतार माना जाता है। इनकी रचना 'मून्राम् तिरूवंतादि' है। जिसमें भक्ति के 100 पद हैं। आत्मतत्व में अटूट आस्था, श्रद्धा, विश्वास भक्ति से युक्त विवकेशील ज्ञानी भक्त के रूप में पेयाल्वार अपने ज्योर्तिमय प्रभु को पाने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते हैं तथा उन्हीं नारायण को ही सर्वसाम्थर्य युक्त मानते हैं। ''सर्वशक्तिमान भगवान नारायण के लिए सब कुछ संभव है। गोर्वधन पर्वत को उठाकर मूसलाधार वर्षा से गोसमुदाय की रक्षा की थी उन्होंने ही। बाण चलाकर लंकापुरी को जलाया था उन्होंने ही। वे ही हैं जो हमें शाश्वत् परमपद उपलब्ध करा सकते है।''[9]

तिरुमलिशै

तिरुमलिशै आल्वार को भक्तिसार के नाम से जाना जाता है। इनका जन्म छठी शताब्दी के अंत में कांचीपुरम् में चतुर्थ वर्ण में हुआ। प्रारंभ में वे शैव थे ''पेयाल्वार से पराजित होने के पश्चात् वे वैष्णव हो गए और अपना नाम तिरुमलिशै रख लिया।''[10] इन्होंने बौद्ध, जैन एवं शैव धर्म का पुरजोर विरोध किया। नीलकंठ शास्त्री के अनुसार, ''वैष्णव योगी होने से पूर्व उन्होंने जैन और बौद्ध धर्म दोनों को अपनाकर देखा था। इससे उनके समय में धर्म की स्थिति और उनकी कविताओं के स्वर का रहस्य स्पष्ट होता है।''[11] इन्होंने दो ग्रंथों की रचना की पहला नान्मुकन् तिरुवंतादि जिसमें भक्ति के 93 पद है तथा 'तिरुच्चवुत्तम्' जिसमें भक्ति के 120 पद है। 'यह प्रसिद्ध है कि नम्मालवार द्वारा विरचित पदों को सुनकर और उन पदों के सामने अपने पदों को निकृष्ट मानकर सभी पदों को फाड़कर कावेरी में फेंक दिया।'[12] नान्मुखन् तिरुवंतादि में विष्णु के नारायण रूप का गायन है। संसार की नश्वरता प्रभु भक्ति का आनंद तथा शरणागति का भावपूर्ण चित्रण है। तिरुच्चंदवृत्तम् में दर्शन के रहस्यों का सरल

विवेचन है। लौकिक प्रेम के आधार पर अलौकिक कल्पना है। (नायक और नायिका) भगवान और भक्त के बीच मिलन उत्कंठा का चित्रण है। ऐसा आल्वार साहित्य में पहली बार हुआ।

नम्मालवार

नम्मालवार को आल्वारों में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। इनका अन्य नाम 'शठकोप' है। नम्मालवार (अर्थात् हमारे आल्वार) नाम प्रेम से वैष्णवों द्वारा दिया गया है। इनका जन्म 7वीं शती में ''पाण्ड्य देश में ताम्रपर्णी नदी के किनारे तिरुक्कुरुकूट नगर में चतुर्थ वर्ण के कुल में हुआ।''[13] इन्होंने पाँच प्रबंधों की रचना की।

तिरुवृत्तम्	100 पद
तिरुवाशिरियम्	74 पद
पेरिय तिरुवंतादि	87 पद
तिरुवाय मोलि	1102 पद
कणिनुल चिरुतांबु	13 पद

मधुरकवि आल्वार

मधुरकवि आल्वार नम्मालवार के शिष्य थे। इनका जन्म ''पाण्ड्य देश के कोलूर में हुआ। वे संगीत शास्त्र में निपुण थे इसलिए वे मधुर कवि के नाम से प्रसिद्ध हुए।''[14] मधुर कवि की ग्यारह पदों वाली एकमात्र रचना 'कण्णिनुण चिरुत्तांबु' प्रबंधम् में संगृहीत है। दस पदों में इन्होंने गुरू नम्मालवार की श्रेष्ठता का वर्णन किया है। 'भगवद् विषय से परे रहने के बावजूद, मैं श्रीदेवी समेत श्याम वर्ण के भगवान नारायण के दिव्य स्वरूप के दर्शन करूँगा। किंतु यह सौभाग्य महिमामय तथा उदारचेता कुरूकूर् स्थल के अधिपति गुरू नम्मालवार का

अनन्य दास होने के गौरव से ही मुझे प्राप्त हुआ है।'[15] गुरू की श्रेष्ठता एवं अनन्यता का प्रतिपादन मधुर कवि ने किया है और गुरू की कृपा से ही उन्हें श्रीदेवी सहित नारायण के दर्शन हुए।

कुलशेखर आल्वार

कुलशेखर आल्वार चेर या केरल प्रदेश के शासक थे। ये बड़े ज्ञानी और रामभक्त थे। ये आठवीं शताब्दी में हुए। क्षत्रिय वंश के राजा कुलशेखर परम रामभक्त थे। इनके दो प्रधान ग्रंथ है एक 'मुकुंदमाला' संस्कृत में है, दूसरा 'परूमाल तिरुमोलि' तमिल में है। इनमें भक्त की दीनता, वैराग्य भाव, श्रीरंगम् के भगवान के समक्ष उपस्थित होकर गान नृत्य करने की कामना आदि का वर्णन है। कुलशेखर आाल्वार ने सख्य, दास्य एवं माधुर्य भाव की भक्ति की है। कृष्ण के प्रति एक गोप कन्या की उलाहना भरी उक्ति उनके एक पद में इस प्रकार प्रकट होती है ''तुम छली हो; पुष्पों से अलंकृत कृष्ण वर्ण की केश राशि से युक्त एक सुंदर कन्या को तुमने तिरछी नज़र से देखा और वहीं बैठी रहने के लिए संकेत किया। फिर किसी और कन्या की ओर दृष्टिपात किया; फिर उसे भी त्यागकर किसी दूसरी कन्या से कहा कि मैं तुम्हारा गुलाम हूँ; फिर किसी और कन्या को अमुक स्थान पर आकर मिलने के लिए झूठमूठ कहा; लेकिन अंत में दूसरी सुंदर कन्या के साथ तुम रहे; पर उसके साथ भी तुम्हारा स्नेह व्यवहार मिथ्यामय ही था।''[16] कृष्ण के प्रति उलाहना भरे पदों को बड़ी सुंदर पद रचना इनकी विशेषता है साथ ही श्रीराम की बाललीलाओं का चित्रण इनकी रचनाओं में मिलता है। कुलशेखर आल्वार के विषय में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित है। कहा जाता है कि एक बार जब यह राम कथा सुन रहे थे। तब कथा में प्रसंग आता है कि सीता की रक्षा निमित्त राम लक्ष्मण को नियुक्त करके अकेले ही खरदूषण की विपुल सेना से युद्ध करने चले जाते हैं, इतना सुनते ही कुलशेखर अपनी सेना को राम की सहायता के लिए प्रस्थान करने की आज्ञा देते हैं। कथावाचक के यह कहने पर कि राम अकेले ही समस्त सेना का संहार कर सीता सहित विजय होकर लौटे। तब कुलशेखर ने अपनी सेना को वापस बुलाया।

पेरियाल्वार

पेरियाल्वार जिसका अर्थ है उत्तम आल्वार। निज रक्षा का ध्यान छोड़ भगवान श्रीरंगनाथ की रक्षा की कामना एवं मंगल कामना करने वाले पेरियाल्वार का अन्य नाम विष्णुचित्त है। इनका जन्म 8वीं शताब्दी में दक्षिण के श्रीविल्लीपुत्तर नामक नगर में ब्राह्मण परिवार में हुआ। ये विष्णु मंदिर में पुष्पसेवा करते थे। इनकी दो रचनाएँ तिरुप्पलांडु और पेरियाल्वार तिरुमोलि प्रबंधम् में संगृहित हैं। जिनमें भक्ति के 473 पद हैं। इन्होंने बालकृष्ण की लीलाओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन किया है। 'श्री बिल्लीपुत्तर के ब्राह्मण पेरियाल्वार ने पाण्ड्य राजा श्री वल्लभ के दरबार में एक धार्मिक वाद–विवाद में विजय हासिल की।'[17] जिस प्रकार सूरदास ने सोलहवीं शताब्दी में कृष्ण की बाललीलाओं का अतिसूक्ष्म वर्णन किया है, उसी माधुर्य एवं वात्सल्य भाव से आठवीं शताब्दी में सूर से पहले वह बाल कृष्ण की लीलाओं का वर्णन उसी मधुरता से कर चुके थे।

आण्डाल

आण्डाल बारह आल्वार संतों में अकेली महिला संत थी। इनका अन्य नाम गोदा है। आण्डाल, पेरियाल्वार की दत्तक पुत्री थी, जो उन्हें पुष्पवाटिका से प्राप्त हुई थी। आण्डाल का अर्थ है जिसने भगवान को प्राप्त किया। पेरियाल्वार को बिल्लीपुत्तूर में अपने उद्यान में तुलसी के पौधे के निकट एक कन्या प्राप्त हुई। उन्हें कोदै 'पुष्प समान कोमल' नाम मिला। यही 'कोदै' शब्द बाद में गोदा बना। इनकी दो कृतियाँ हैं। पहली रचना 'तिरुप्पावै' है, जिसमें भक्ति के 30 पद हैं। तिरुप्पावै कांता भक्ति का भव्य रूप प्रस्तुत करता है। ''गोदा की भावना इतनी गहरी हो गयी थी कि उसका चाल–चलन, बोली इत्यादि और केश की गंध भी गोपियों के जैसे हो गई। इस प्रकार (स्वंय एक गोपी बनकर) गोपी भावना की प्रचुरता में, तिरुप्पावै की सूक्तियाँ उनके हृदय में अनायास प्रवाहित होती हैं।''[18] आज भी ''तमिल प्रदेश के घर–घर में

मार्गशीर्ष मास में प्रातः काल तिरुप्पावै के गीत श्रद्धा से गाए जाते हैं''[19] दूसरी रचना 'नाच्चियार तिरुमोलि' में भक्ति के 143 पद हैं। जिसमें प्रियतमा आण्डाल के विरह उद्‌गारों का वर्णन है। आण्डाल श्रीरंगनाथ से प्रेम करती हैं। दक्षिण की गोदा की तुलना उत्तर की मीरा से की गई है। आण्डाल अपने विवाह का वर्णन इस प्रकार करती हैं–

'सखि! सपना देखा मैंने

बज रहे हैं ढ़ोल के संग विविध वाद्य वृंद

हो रही है शुभ्र शंख की मंगल ध्वनि

सुसज्जित है विवाह मण्डप

मणि–विद्रुम की कमनीय लड़ियों से

पधार रहें हैं मणि मण्डप में

प्रियतम मधुसूदन

लेकर मेरा हाथ निज करतल में

कर रहें हैं मेरा पाणि ग्रहण

सखि ऐसा सुंदर सपना देखा।[20]

गोदा का स्वप्न शीघ्र साकार हुआ। उनका विवाह श्रीरंगनाथ से संपन्न हुआ। अंततः वह उनकी मूर्ति में ही तिरोहित हो गई। इन्हें दक्षिण की मीरा भी कहा जाता है।

तोण्डरअडिप्पोडि आल्वार

इनके नाम का अर्थ है 'भक्तों की चरण रज'। इन्हें 'भक्तघ्रिरेणु' कहा जाता हैं। इनका जन्म 8वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध 9वीं शताब्दी के पूवार्द्ध में माना जाता है। इनका जन्म

ब्राह्मण कुल में तंजौर के भडकुडी गाँव में हुआ। उन्होंने श्रीरंगनाथ की अराधना की। इनकी दो रचनाएँ तिरुमालै (पवित्र माला) जिनमें भक्ति के 45 पद तथा दूसरा तिरुप्पल्लि एलुच्चि (भगवान को जगाने के प्रभात गीत) 10 पद प्रबंधम् में संगृहीत है। उनके पदों में विरक्ति की भावना के दर्शन होते है।

''श्रीरंग में सुशोभित मेरे प्रभु!

मानव की उम्र शतायु मान लें तो

उसमें आधा भाग निद्रा में बीत जाता है।

शेष पचास वर्ष बचपन, यौवन में बीत जाता है।

इस पर रोग, भूख, बुढ़ापा आदि दुख सताते हैं।

हे प्रभो!

मैं कोई जन्म ही नहीं चाहता।''[21]

तिरुप्पाणल्वार

तिरुप्पाणल्वार का संस्कृत अनुदित नाम 'योगिवाह' है। इनका जन्म श्रीरंग क्षेत्र से चार मील की दूरी पर स्थित उरैयूर में पावर् नामक चतुर्थ वर्ण में हुआ। इनकी एकमात्र दस पदों वाली 'अमलानादिपिरान्' शीर्षक कविता प्रबंधम् में संगृहीत हैं। आल्वार ने श्रीरंगनाथ के प्रति अपने उद्गारों को व्यक्त करते हुए अपना सर्वस्व उन्हीं को समर्पित कर दिया है। 'अमरानादिपिरान् के धार्मिक महत्त्व को स्वीकार कर आज भी दक्षिण के विष्णु मंदिरों में नियानुसंधान कार्यक्रम में इसे स्थान दिया गया है।'[22] तिरुप्पाणल्वार की भक्ति दास्य भाव की भक्ति है। आल्वार के पदों में माधुर्य भाव के भी दर्शन होते हैं।

'महान वटवृक्षों के एक पत्र पर सोनेवाले बालक हो,

सात लोकों को निगलने वाले हो,

श्रीरंग में सर्पशय्या पर निवास करने हो,

तुम्हारे सुंदर नील मणिहार, मुक्तादाम और

अनंत सौंदर्य से युक्त नीलवर्ण शरीर ने

मेरे मन को घायल कर, उसे चंचल कर दिया है।[23]

कृष्ण प्रेम की मादकता से पूरित इनके पद सहृदय पाठक को उद्वेलित कर देते हैं।

तिरुमंगै आल्वार

तिरुमंगै आल्वार जिनका अन्य नाम 'परकाल' है, इनका जन्म तमिल प्रदेश के चोल मण्डल में कुरैपलूर में चतुर्थ वर्ण में हुआ। ''नन्दिवर्मन पल्लवमल विष्णुपूजक तथा विद्या का बहुत बड़ा संरक्षक था। महान वैष्णव संत तिरुमंगै आल्वार उनके समसामयिक थे।''[24] तिरुमंगै आल्वार युद्ध प्रिय, लडाकू, दानी स्वभाव के तथा वैष्णव भक्तों की सेवा में रत रहने वाले माने जाते थे। तिरुमंगै आल्वार के भजनों में नांगूर की, वहाँ के योद्धाओं की शूरता के कारण बार–बार अराधना की गई है। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं–

पेरियतिरुमोलि	**1084 पद**
तिरुक्करूताण्डकम्	**20 पद**
तिरुनेडुण्ताण्डकतम्	**30 पद**
तिरुवेलुकूर्रिरुक्कै	**1 पद**
शिरिय तिरुमडल	**40 पद**
पेरिय तिरूमडल	**78 पद**

तिरुमंगै आल्वार की भक्ति में रौद्र रस भी नज़र आता है साथ ही साथ दास्य एवं माधुर्य भाव की भक्ति के भी दर्शन होते हैं। ''हरिण सम मनोहर नयनवाली नपिन्नै हेतु, युद्धरत सात वृषभों का संहार करने वाले, पर्वत के समान भुजाओंवाले, मधु! श्रीवेंकट महापर्वत में प्रेम के साथ निवास करने वाले मेरे स्वामी! मेरे मन को अपना निवास स्थान बना विराजित हो।''[25]

3.3 आल्वार संतों का 'नालायिर दिव्य प्रबंधम्'

तमिल साहित्य भारतवर्ष का उत्कृष्ट साहित्य है तथा द्रविड़ भाषाओं में सर्वप्रथम माना जाता है। चोल और चेर राजाओं के प्रोत्साहन से जैन, बौद्ध, शैव तथा वैष्णव विद्वानों ने इस साहित्य की बहुत उन्नति की और अनेकानेक लेखकों ने अपनी–अपनी रचनाओं द्वारा तमिल साहित्य के भण्डार को भर दिया। सर्वप्रथम तमिल भाषा में वैष्णव भक्ति के मूल ग्रंथ का आविर्भाव आल्वार संतों द्वारा हुआ।

आल्वार संतों ने अपने आराध्य श्रीमन्नारायण के स्वरूप, गुण, लीला का अनुभव विविध प्रकार से किया है तथा इसे पद्यमाला में पिरोया है, जिसमें 4000 पद्य है। इस विपुल भक्ति साहित्य को 'नालायिर दिव्य प्रबंधम्' कहते हैं। भारतीय वैष्णव भक्ति काव्य में आल्वार साहित्य 'नालायिर दिव्य प्रबंधम्' का अद्वितीय स्थान है। यह वैष्णव भक्ति साहित्य को आल्वारों की ओर से महत्त्वपूर्ण भेंट है। प्रबंधम् ईसा की छठी से नवीं शताब्दी के मध्य तमिल प्रांत में उत्पन्न बारह आल्वार संतों द्वारा तमिल भाषा में रचित चौबीस रचनाओं का संकलन है।

दिव्य प्रबंधम् में विष्णु के अर्चावतारों की स्तुति की गई है। वाराह, नरसिंह, वामन, राम और कृष्ण आदि की महिमा का गुणगान किया गया है। डॉ. रविंद्र कुमार सेठ आल्वार संतों की रचना के विषय में अपना मत प्रकट करते हैं कि ''आल्वारों का युग महाकाव्यों की रचना के लिए अनुकूल न था। अतः रामकथा या कृष्णकथा को लेकर महाकाव्य

रचने की ओर वे प्रवृत्त नहीं हुए। परंतु उन्होंने रामावतार और कृष्णावतार के कुछ विशिष्ट प्रसंगों को लेकर असंख्य पद रच डाले। तमिल में महाकाव्य के रूप में 'रामायण' की रचना 11वीं शताब्दीं में महाकवि कंबन द्वारा हुई। परंतु कंबन को भी रामायण लिखने की प्रेरणा आल्वारों, विशेषतः कुलशेखर आल्वार के काव्य से मिली।''[26] श्रुतियों के अनुसार कंबन, आल्वार संत नम्मालवार से अधिक प्रभावित थे। नम्मालवार की स्तुति में कंबन ने 'शठगोपरन्तादि' नामक ग्रंथ की रचना कर डाली थी।

'प्रबंधम्' का सर्वाधिक महत्व भारतीय भक्ति आंदोलन के मूल ग्रंथ के रूप में है। प्रबंधम् को तमिल के वेद की संज्ञा दी जाती है। डॉ. मलिक मोहम्मद कहते हैं, ''नवीं शताब्दी के पश्चात् ही तमिल जनता ने आल्वार साहित्य के वास्तविक महत्व को पूर्ण रूप से जाना। विचारक आल्वार–साहित्य–सागर में गोता लगाकर अमूल्य विचार को खोज निकालने लगे। प्रबंधम् की अनेक टीकाएँ निकली। तमिल और संस्कृत में अनेक भाष्य निकले। आल्वारों की स्तुति में सैकड़ों पुस्तकें लिखी गयीं। जनता की दृष्टि में 'प्रबंधम्' वेदों से भी अधिक श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण दीख पड़ा। फलस्वरूप मंदिरों में आळवार–पदों के गायन का विशेष प्रबंध किया गया और इस प्रकार आळवार–पदों का गायन जनता के धार्मिक जीवन का एक अनिवार्य अंग बन गया।''[27]

आल्वार संतों के विशेषज्ञ डॉ. मलिक मोहम्मद अपनी पुस्तक 'वैष्णव भक्ति आंदोलन का अध्ययन' में कहते हैं, ''आल्वार पूर्व तमिल के संघ साहित्य के लौकिक प्रेम–काव्यों में नायक–नायिका संबंध के संयोग–वियोग दोनों पक्षों की जिन दशाओं का निर्वाह किया गया था, उन सबका आल्वारों ने प्रयोग कर नायक–नायिका भाव से अर्थात् मधुर भाव से भक्त और ईश्वर के संबंध को पहली बार अभिव्यक्त किया था। वैष्णव भक्ति साहित्य में मधुर भक्ति का उद्‌गम यहीं से मानना चाहिए।''[28] आल्वारों संतों द्वारा प्रतिपादित यह रागात्मक भक्ति भारतीय संस्कृति को दक्षिण भारत की महत्त्वपूर्ण देन है।

''इस दिव्य प्रबंधम् की महत्ता को सिद्ध करने वाले महान् आचार्यों में नाथमुनि, आलवन्दार, रामानुजस्वामी, कुरत्ताल्वान्, पराशर भट्ट, वेदांत देशिक, मणवाल मामुनि आदि विशेष

उल्लेखनीय हैं।''[29] दिव्य प्रबंधम् का यह रचना–संग्रह दसवीं सदी में नाथमुनि के समय में सम्पादित हुआ था। कहा जाता है कि दिव्य प्रबन्ध की सभी रचनाएँ एक काल में खो चुकी थीं। पुनः अत्यधिक प्रयत्न से इन पद्यों को प्रकाश में लाने का श्रेय नाथमुनि को ही है। ''नाथ मुनि ने आल्वारों के चार सहस्त्र पदों का संकलन एवं संपादन किया। वे चार सहस्त्र प्रबंधम् ही चार तमिल वेद हैं। यामुनाचार्य ने प्रबन्धम् को संस्कृत के दिव्य ग्रंथों की प्रतिष्ठा दी और तब से इन्हें 'दिव्य प्रबंधम्' कहा जाने लगा। यामुनाचार्य, नाथ मुनि के पौत्र थे।''[30]

डॉ. सेवा सिंह अपनी पुस्तक 'भक्ति और जन' में नालायिर दिव्य प्रबंधम् की आलोचनात्मक व्याख्या करते हुए कहते हैं, ''नालायिर प्रबंधम्' का संकलन मुख्यतः ब्राह्मणों द्वारा अपने हितों को ध्यान में रखकर किया गया था और इसीलिए उसमें सामाजिक विरोध का स्वर गूंजता दिखाई नहीं पड़ता। आल्वारों के भक्ति सम्प्रदाय का मुख्य उद्देश्य यह रहा लगता है कि उत्पादन के आर्थिक पक्ष से सम्बन्धित उस नए प्रबन्ध को कठोर अनुशासनबद्ध व्यवस्था के रूप में परिणत किया जा सके जो कृषि जोतों और ग्रामीण दस्तकारों की सेवाओं को विभिन्न प्रकार के माफीदार पुजारियों को बड़े पैमाने पर हस्तांतरित कर दिये जाने के फलस्वरूप विकसित हो चुका था। इसके बिना भक्ति आंदोलन में शूद्रों की भागीदारी सिद्ध नहीं की जा सकती।''[31] डॉ. सेवा सिंह ने आल्वारों की कड़ी आलोचना की है तथा इनके भक्ति काव्य प्रबंधम् को भी ब्राह्मणवादी घोषित किया है। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी कहते हैं, ''दिव्य प्रबंध अपने पूरे विस्तार में भारतीय राष्ट्रीय–सांस्कृतिक एकता का विलक्षण साक्ष्य है। भाषा साहित्य के अंतर्गत भक्ति काव्य की अग्रणी भूमिका में उस की व्यापक दृष्टि आश्चर्यचकित करने वाली है, और है उन अंग्रेज़ तथा अंग्रेज़निष्ठ विचारकों के लिए करारा जवाब, जो मानते है कि भारतीय राष्ट्रीय एकता अंग्रेजों के शासन का फल है''[32]

विद्वानों के नालायिर दिव्य प्रबंधम् के विषय में मतों में विभेद नज़र आता है। प्रबंधम् के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह आल्वारों ने किसी साम्प्रदायिक भावना या किसी ब्राह्मणवादी विचारधारा से प्रेरित होकर इन पदों का गान नहीं किया अपितु श्रीमन्नाारायण के विविध अवतारों को अपने ईश बनाकर गुणगान किया है। उनकी लीलाओं का गायन किया है।

3.4 श्रीमद्भागवत और नालायिर दिव्य प्रबंधम्

श्रीमद्भागवत वैष्णवों का महान् ग्रंथ है। जिसमें बारह स्कन्ध है। इस ग्रंथ में ईश्वर के विविध अवतारों का उनकी लीलाओं सहित वर्णन किया गया है। प्रबंधम् और भागवत का अंतर बताते हुए डॉ. मलिक मोहम्मद प्रबंधम् को विशिष्टतावादी विचाराधारा का स्रोत कहते हैं, ''प्रबंधम् एक व्यक्ति की रचना नहीं हैं और वह विविध समयों में भक्ति के भावावेश के क्षणों में गाए गए पदों का संकलन है, जबकि भागवत एक ही व्यक्ति की रचना होने के कारण प्रबंधम् की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित रूप में है। यही कारण है कि प्रबंधम् में कृष्ण चरित्र क्रमबद्ध रूप में वर्णित है। भागवत में भक्ति तथा दर्शन के तत्त्वों का विवेचन शास्त्रीय ढ़ंग से व्यवस्थित रूप में हुआ है। परंतु ये ही तत्त्व प्रबंधम् में बिखरे पड़े हैं।''[33] प्रबंधम् के पद व्यवस्थित रूप में नहीं है। जबकि भागवत में इन पदों का क्रमानुसार विवेचन है।

सुवीरा जायसवाल 'गीता' में भक्ति को विनयपूर्वक भगवान की उपासना न मानकर बौद्धिक विश्वास और श्रद्धा कहती हैं, ''भगवद्गीता में भक्ति का तात्पर्य परमात्मा के प्रति विशुद्ध प्रेम से है, जो यद्यपि अपने भीतर संपूर्ण विश्व को धारण किए हुए है तथा अकल्पनीय है, तथापि एक ऐसा साकार एवं अर्चनीय रूप रखता है, जिसके साथ उपासक वैसी घनिष्ठ आत्मीयता के भाव का अनुभव कर सके, जैसी आत्मीयता मित्र और मित्र, पिता और पुत्र तथा प्रेमी और प्रेमिका के बीच होती है। पर उसमें (गीता) भावुक प्रेम का पुट नहीं है। भगवान के प्रति अपनी प्रेमपूर्ण उपासना में भक्त उनके लोकातीतत्त्व तथा महिमा से पूर्णतः अभिज्ञ रहता है तथा वह पूरी विनम्रता के साथ उनके अनुग्रह की याचना करता है। गीता में उस परमात्मा के प्रति, भक्ति मिश्रित भय तथा श्रद्धा का वातावरण उपस्थित किया गया है, जिसका रूप आतंककारी है; किंतु जो भक्तों के कल्याणार्थ अधिक सह्य रूप धारण करना स्वीकार कर लेता है।''[34] भागवत में विष्णु के चौबीस अवतारों का वर्णन मिलता है। क्रमानुसार एक बंधी हुई परिपाटी में कथाओं का वर्णन है। जहाँ ईश्वर के प्रति श्रद्धा, विश्वास के

साथ–साथ एक भयमिश्रित भक्ति है। भागवत का प्रेम एक बंधन स्वरूप प्रेम है जबकि प्रबंधम् का प्रेम उन्मुक्त प्रेम है।

सुवीरा जायसवाल आल्वार प्रेम की अनुभूति का वर्णन करते हुए कहती हैं, ''भागवत भक्ति की धारणा में श्रृंगारात्मक रहस्यवादी प्रवृत्ति कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती : इस तत्त्व का समावेश अंततः गोप देवता कृष्ण के साथ नारायण के एकीकरण के परिणामस्वरूप हुआ। कृष्ण का प्रारंभिक जीवन, जैसा कि हरिवंश और विष्णु पुराण में वर्णित है, प्रकृतितः ऐंद्रिक और मानवीय है और इसलिए बहुत संभव है कि उनकी लोकप्रचलित उपासना का भावात्मक झुकाव श्रृंगारिकता की ओर रहा हो। किंतु अपने भक्तों की अभिलाषाओं की पूर्ति करने वाले तथा उनके प्रेम के प्रतिदान में तत्पर रहने वाले भगवान के प्रति प्रेम भावना से भरी भावात्मक भक्ति की अभिव्यक्ति आगे चलकर तमिल अलवार संतों के पदों में हुई।''[35]

श्रीमद्भागवत दिव्य प्रबंधम् के बाद की रचना मानी जाती है। भागवत के रचनाकार तमिल प्रदेश के थे, जो प्रबंधम् और संस्कृत दोनों के विद्वान थे। भागवतकार ने प्रबंधम् के पदों को सुव्यवस्थित करने का अद्भुत कार्य किया। प्रबंधम् में ऐसी बहुत सी बातों के दर्शन होते है जो भागवत में नहीं है। भागवत में 'राधा' का नामोल्लेख नहीं मिलता। राधा नाम के स्थान पर एक विशिष्ट गोपी का उल्लेख होता है। प्रबंधम् में 'नपिन्नै' नाम से राधा का ही वर्णन है। जो कृष्ण के साथ विविध लीलाएं करती है।

3.5 आल्वार संतों के काव्य का दार्शनिक स्वरुप

आल्वार संतों ने विष्णु की महत्ता का प्रतिपादन किया है। श्रीपति नारायण को ही सर्वश्रेष्ठ मानकर उन्हीं की भक्ति पर विशेष बल दिया है। इनके जीवन का एक ही व्रत था–विष्णु के विशुद्ध प्रेम में स्वतः लीन होना तथा अपने उपदेशों द्वारा दूसरों को लीन करना। पहले की दर्शनधाराओं के दर्शन में ईश्वर हमारे भीतर है, उस (ईश्वर) को खोजने की कोशिश की जाती थी। भक्तिकाल के कवियों ने ईश्वर के अंदर मनुष्य खोजने की कोशिश की। ईश्वर

एकदम साक्षात् हो गए और वे उनके क्रियाकलापों एवं मनोविकारों का विवेचन करने लगे। तमिल की पुरानी कविता में मनुष्य के रूप में देवता की कल्पना नहीं है। आल्वारों के यहाँ सर्वप्रथम उसे मनुष्य के रूप में ढ़ालने की कोशिश होती है और वह भी उसी रूप में जिसमें जनता बातचीत करती है। आल्वारों के यहाँ कृष्ण के मंगल की कामना की गई है। आल्वार केवल भक्त नहीं थे अपितु दर्शन के सारवेत्ता भी थे। आल्वार संतों की रचना में भक्ति एवं दर्शन का समन्वय मिलता है। उनकी उपासना में शरणागति के महत्त्व का उल्लेख हुआ है। आल्वारों की दार्शनिक विचारधारा का अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है कि उन्होंने वेद, गीता, पांचरात्र संहिताओं आदि के दार्शनिक सिद्धांतों को व्यापक मात्रा में स्वीकार किया है। जिसके कारण उनके साहित्य में एक ओर निर्विशेष तथा निर्गुण ब्रह्म ज्ञान का तथा दूसरी ओर चिद्–अचिद् विशिष्ट एवं सगुण भगवान की रसमय भक्ति का निरुपण हुआ है। आल्वारों के यहाँ ब्रह्म, जीव, जगत, माया एवं मोक्ष के संबंध में दार्शनिक विचारों के केंद्र में सगुण श्रीनारायण की महत्ता का ही प्रतिपादन हुआ है।

ब्रह्म तथा विष्णु अथवा नारायण

आल्वार संतों ने वाराह, नरसिंह, वामन, राम, कृष्ण एवं विष्णु के श्रीरंगनाथ स्वरूप को अपनी भक्ति का आधार बनाया है। आल्वारों द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म सगुण भी है निर्गुण भी। वे ही आदि, अमर, अनंत है। आल्वारों के नारायण ही सर्वव्यापक, सर्वकल्याणकारी, सर्वेश्वर, नियामक, नियंत्रक एवं संहारकर्त्ता भी वही है। ''श्रीपति नारायण ही परतत्त्व है जो अचेतन उनके शरीर है।''[36] ब्रह्मा एवं रूद्र भी उनके अधीन है।

पोयगै आल्वार नारायण की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कह रहे हैं, ''सभी देवताओं के आधारभूत परमात्मा नारायण ने ही ब्रह्मा, रूद्र तथा अन्य छोटे–बड़े देवताओं की सृष्टि की और उन्हें अपने–अपने चेतनाचेतन कार्यों के लिए सशक्त बनाया।''[37] इसी प्रकार एक अन्य पद में वह अन्य सभी देवी–देवताओं की प्रार्थना करना व्यर्थ बता रहे हैं, ''सर्वकारण भूत कृपालु नारायण की कृपा या प्रसाद को छोड़कर सागर से घिरे हुए इस संसार में अन्य

सभी देवी–देवताओं की कृपा या प्रसाद व्यर्थ ही है।''[38] भूत्ततु आल्वार नारायण को समस्तप्रपंच एवं सृष्टि का नियंता मानते हुए उन्हें ही संहारक एवं मोक्ष दाता मान रहे हैं ''समस्त प्रपंच, प्रपंच के कार्य, प्रपंच के आधार पंचभूत और उनसे बना शरीर और शरीरगत पंच इंद्रियाँ, अर्थात् सृष्टि के आधारभूत तमाम तत्त्व, प्रलयकाल की बडवाग्नि जो प्रलयकाल में समस्त सागर को जला देती है, सांसारिक जीवन तथा मोक्ष आदि भगवान नारायण ही हैं।''[39] ''पेयाल्वार नारायण को सर्वस्व मानते हुए कह रहे हैं समस्त विश्व में विद्यमान सारी चेतन–अचेतन वस्तुऐं, तपस्या के द्वारा दिव्य शरीर प्राप्त ब्रह्मा आदि देवता, नक्षत्र, अग्नि, पर्वत, सारी दिशायें, सूर्य–चंद्र–ये सब भगवान नारायण के ही शरीर हैं। भगवान नारायण अनुपम हैं–स्वयं उपमान है और उपमेय भी है; वे शरीर भी है, शरीरी भी वही हैं।''[40] नारायण साधारण मनुष्यों द्वारा समझे नहीं जा सकते अपितु वे तो वेद–वेदांगों द्वारा भी समझ से परे हैं ''ज्ञानी लोग अनुसंधान कर निरूपित हैं कि भगवान नारायण ही एकमात्र परब्रह्म हैं फिर भी परमात्मा की अपार महिमा को कोई पूर्णतः समझ नहीं पाते। वेद–वेदांगों द्वारा भी भगवान नारायण की सम्पूर्ण स्थापना नहीं हो पाती।''[41] आल्वार संतों के जीवन का एक ही व्रत था। विष्णु के विशुद्ध प्रेम में लीन होना एवं अपने उपदेशों द्वारा दूसरे को लीन करना।

आल्वार संतों ने सर्वस्व नारायण को ही समर्पित कर दिया है। वे ही पूर्णब्रह्म के रूप में मान्यता प्राप्त करते हैं। ''इनका ईश्वरवाद एक ऐसे पुरुषोत्तम में श्रद्धा और विश्वास की प्रेरणा देता है, जो अत्यंत दयावान है और अपने भक्तों का त्राणकर्ता है।''[42] सभी आल्वार एक भक्त कवि थे। एक दर्शनाचार्य के रूप में उन्होंने अपने दर्शन की व्याख्या नहीं की है अपितु उन्होंने नारायण को केंद्र में रखकर उनकी लीलाओं का विशद् वर्णन किया है। नारायण को ही ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया है।

जीव

आल्वार संत जीव को ब्रह्म का अंश मानते हैं। किसी भी जीव को ब्रह्म अथवा भगवत् प्राप्ति के लिए कठोर नियमों का पालन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। ''आल्वारों

के मतानुसार जीव परमात्मा का नियाम्य है, वह एक शेषी सत्ता का शेष है, अंशी का अंश है और विशेष्य का विशेषण है।''[43] आल्वार जीवों को समझाते हैं तथा सभी को समानता की दृष्टि से देखते हैं भगवान के अनुग्रह को ही महत्त्व देते हुए कहते हैं, ''चाहे पशु हो या मानव या कोई भी जीव–जन्तु–भगवान की अराधना के लिए किसी विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं है, केवल चाहिए भगवान के प्रति भक्ति और भगवान का अनुग्रह।''[44] आल्वार के अनुसार भक्त जिस रूप में चाहते हैं, वही उसका रूप है; भक्त जिस किसी भी विधि से उसकी उपासना करें, उसी ढ़ग से विष्णु भगवान उसके उपास्य बन जाते हैं।

भूत्ततू आल्वार नारायण को शेषी और चेतन मानव को शेष बताते हुए, शेषी एवं शेष का संबंध स्थापित करते है ''यदि चेतन मानव अपने इस शेषत्त्व को समझने में भले ही असमर्थ हो, फिर भी भगवान नारायण को अपने अंतस्तल में पाने की उसकी उत्कंठा मात्र पर्याप्त है।''[45] प्रपत्तिमूलक पदों की रचना आल्वारों ने की है जिसमें वह समस्त सुख, कामना, वासनाओं को त्यागकर केवल भगवान नारायण का सामीप्य चाहते हैं ''भक्त आल्वार कुलशेखर का कहना है, ''भले ही अमर यौवन से भरपूर अति सुंदरी रंभा आदि अप्सराओं आदि से घिरे हुए इंद्र आदि देवादिदेवों का वैभव संपन्न स्वर्गिक पद एवं समस्त भूलोक का साम्राज्य मिल भी जाएं, फिर भी मैं उन्हें नहीं चाहूँगा। मैं चाहूँगा तो केवल यह कि मधुभरित उद्यानों से मंड़ित श्रीवेंकटपर्वत के तालों में मछली के रूप में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हो।''[46] इसी प्रकार तोण्डरअडिप्पोडि आल्वार भी सांसारिक विषयों से मुक्ति चाहते हुए पुनः जन्म भी नहीं लेना चाहतें। वे जीवन के अन्यथा व्यतीत हुए समय एवं विषयों में कहते हैं–

''श्रीरंग में सुशोभित मेरे प्रभु

मानव की उम्र शतायु मान लें तो

उसमें आधा भाग निद्रा में बीत जाता है।

शेष पचास वर्ष बचपन, यौवन में बीत जाता है।

इस पर रोग, भूख, बुढ़ापा आदि दुख सताते हैं।

हे प्रभो!

मैं कोई जन्म ही नहीं चाहता।''[47]

आल्वार संतों के अनुसार वह जीव, जीव नहीं जिसने हरि की भक्ति नहीं की। वह अपराधी है और पृथ्वी के लिए भारस्वरूप है। भक्त जीव ही भगवान को प्रिय है। भगवान को प्राप्त करने के लिए स्वयं के शरीर को कष्ट देने की कोई आवश्यकता नहीं है अपितु भक्ति द्वारा ही जीव, ब्रह्म का वरण कर सकता है।

जगत्

आल्वार संतों ने जगत् को सत्य और नित्य माना है। दूसरी ओर आल्वारों ने इस जगत् को अनित्य एवं मायायुक्त भी कहा है। आल्वार समस्त चराचर जगत् की उत्पत्ति को भगवान नारायण का संकल्प मात्र मानते हैं। ''आकाश, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी–ये पंच भूत, सूर्य, चंद्र, मेघ, चेतनप्राणी, आठों दिशाएँ, उनमें परिव्याप्त स्थान, इन सबका समावेत रूप अखिल ब्रह्माण्ड भगवान नारायण के संकल्प मात्र से उद्भूत है।''[48] वह समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति को नारायण का संकल्प मात्र मानते हैं। आल्वार संत इस जगत् को अविद्या तथा दुर्भाग्य युक्त मानते हैं इसलिए पुनः इस जगत् को स्वीकार करना नहीं चाहते। नम्मालवार कहते हैं ''सकल प्राणियों की रक्षा करने के लिए विभिन्न रूपों में अवतरित होने वाले हे परमात्मा! अमरों के अधिपति हे भगवान नारायण! कृपया मुझ दास का विनम्र निवेदन सुनें। अविद्या तथा दुर्व्यव्यवहारों से युक्त इस अशुद्ध शरीर के साथ भव जीवन जीने का दुर्भाग्य हमें न मिला करे–ऐसी कृपा करें।''[49]

आल्वार संतों ने सारे जगत् तथा तमाम सृष्टियों का कारणभूत भगवान नारायण को ही माना है। जगत् का पालन, संचालन एवं विलयन उस ब्रह्म की ही लीलाएँ हैं।

माया

ब्रह्म अथवा नारायण को ही आल्वार संतों ने मायापति की संज्ञा दी है। ये समस्त चराचर जगत् उसकी माया है तथा जीव उसी ब्रह्म की माया के अधीन है। ''आल्वार एक ओर

कहते हैं महाप्रलय काल में जब किसी जगत् या जीव का अस्तित्त्व नहीं था, तब ब्रह्म ने अपनी माया से उत्प्रेरित होकर सृष्टि विकास का कार्य किया और दूसरी ओर कहते हैं कि अविद्या माया के जाल में पड़कर जीव अपने स्वंय प्रकाश रूप से विमुख हो व्यामोह चक्र के आवर्त में घूमा करता है।''[50] उनकी माया को समझने में आल्वार स्वंय को असमर्थ मान रहे हैं। वहीं इस संसार रूपी माया को रचने वाले हैं। इस माया के प्रभाव से ही जीव अपने कर्म की ओर उन्मुक्त होता है और इसी के कारण भ्रम की स्थिति में रहता है। तिरुमलिशै आल्वार नारायण को ही ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, ज्योति स्वरूप, वेद, यज्ञ आदि मानते हैं इन सबको उसी की माया बताते हैं–

''तुम आदि, आदि आदि हो।

तुम ब्रह्माण्ड के आदि हो।

तुम ज्योति स्वरूप हो।

तुम प्रकाशमान हो।

तुम वेद हो, यज्ञ हो, आकाश के साथ भूमि भी हो।

तुम आदि भी हो, अहीर भी हो।

यह कैसी माया है।''[51]

उस ब्रह्म की माया को समझ ना पाने के कारण नम्मालवार अपनी विवशता इस प्रकार प्रकट कर रहे है

''एक चरण आगे बढ़ाकर,

नीचे की सागर परिवृत भूमि को मापकर,

दूसरे चरण से सब लोकों को मापनेवाले मायावी!

तुम्हें देखने की लालसा से, विह्वल होकर

न जाने कितने दिन आग के पास स्थित मोम के सदृश

मैं इस लोक में मारे–मारे फिरता रहूँ।''[52]

मोक्ष

आल्वार संतों ने भक्त (जीव) एवं ईश्वर (ब्रह्म) के सामीप्य को ही मोक्ष की संज्ञा प्रदान की है। परम भक्ति शरणागति द्वारा ही उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। आल्वार संत स्वर्ग या बैकुण्ठ प्राप्त कर लेना मोक्ष नहीं समझते अपितु प्रभु के नैकट्य को ही मोक्ष मानते हैं। भगवान नारायण भक्त की रक्षा के लिए कितने तत्पर रहते हैं। अपने बात को सिद्ध करने के लिए आल्वार ने गजेंद्र मोक्ष की कथा को उद्धृत करते हैं। उसी को प्रणाम करने से मुक्ति मिलेगी। पोयगै आल्वार कहते हैं–

जो अविनाशी है,

जो दृष्टि से परे है,

जिसके हज़ारों नाम हैं।

जिसकी आँखों में अरुणाई है।

वह श्याम सुंदर हैं,

उसे करबद्ध प्रणाम करने से पाप–पुण्य से मुक्ति मिलेगी।

नरक से छुटकारा मिलेगा, कुमार्ग से बचेंगें।''[53]

भूत्ततुआल्वार के अनुसार ''चेतन भक्त मानव को प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसका सारा भार भगवान नारायण अपने ऊपर ले लेते हैं और अपनी शक्ति से उसका सारा कार्य कर देते हैं।''[54] नाम्मालवार केवल नारायण को शरण्य समझते हुए विविध क्रियाओं के माध्यम से उन्हें ही संसार सागर से मुक्ति प्रदान करने वाला मानते हैं।

''बहुत पहले महाप्रलय में डूबी पृथ्वी का वाराहवतार लेकर भगवान नारायण ने उद्धार किया था और पृथ्वी को भयानक प्रलय धारा से बाहर लाकर प्रतिस्थापित किया था। वही भगवान नारायण कल्पवृक्षों से सम्पन्न स्वर्गलोक के देवों, उनसे भिन्न मनुष्यों, नाग आदि विभिन्न प्रकार की सृष्टियों तथा अन्य स्थावर जंगम वस्तुओं को ज्ञान प्रदान करने वाले स्वामी है।''[55]

नम्मालवार तथा आण्ड़ाल ने अनेक पदों में कांता भाव की भक्ति कर मोक्ष की कामना की है। ''आल्वार भक्त शास्त्र के निष्णात विद्वान न होकर भक्ति रस सिक्त थे। इनके जीवन का एक मात्र आधार था प्रपत्ति; भगवद्कृपा पर ही आश्रित रहकर भगवान का नाम स्मरण तथा ध्यान करना ही इन आल्वारों के लिए भगवद् प्राप्ति का एकमात्र साधन था।''[56] आल्वारों के अनुसार मोक्ष विष्णु भक्ति पर ही निर्भर था, कर्मकाण्ड़ों अथवा यज्ञों पर नहीं। वैष्णव धर्म का सबसे मुख्य सिद्धांत विष्णु की एकांतिक भक्ति था। प्रत्येक व्यक्ति को किसी फलेच्छा के बिना अपना कर्तव्य भी करना होता है।

वैष्णव सम्प्रदाय ने इस बात पर जोर दिया कि ईश्वर सबके लिए गम्य है, उसके लिए जात–पांत की कोई बाधा नहीं है। इस मामले में यह नया धर्म अधिक जनतांत्रिक था। ''वैष्णव सम्प्रदाय के रहस्यमय गीतों में ईश्वर को प्रायः एक प्रेमी के रूप में चित्रित किया था और भक्त को प्रायः एक कन्या के रूप में–जो अपने प्रेमी के लिए व्याकुल रहती थी।''[57]

आल्वार संतों के दर्शन में ब्रह्म, जीव, जगत्, माया मोक्ष सभी नारायण की सेवा एवं अनुग्रह द्वारा उन्हीं की कृपा से संभव है। ''आल्वारों का सिद्धांत है कि भगवान एवं भगवद्भक्तों का कैंकर्य (सेवा) ही सबसे श्रेष्ठ पुरुषार्थ है, जो इहलौकिक ऐश्वर्य से बढ़कर विलक्षण और स्थिर होता है। उनकी दृष्टि में अर्चावतार मूर्तियाँ दिव्य मंगल विग्रहवाले सभी, शुभ एवं कल्याण गुण परिपूर्ण भगवान है। परमपद निवासी, अवताररूपी या अर्चारूपी भगवान के सभी स्वरूप इसके लिए समान एवं ग्राह्य है। इनमें कोई अंतर नहीं होता।''[58] आल्वार संतों ने वेदांत को रसपूर्ण कलात्मक रूप देकर आम जनता के लिए आकर्षक एवं ग्राह्य बनाया।

3.6 दक्षिण भारत में वैष्णव भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि

तत्कालीन भक्ति आंदोलन एक क्रांतिकारी आंदोलन था। किसी भी क्रांति के उत्पन्न होने में समय लगता है। यह समय परिवर्तित होती राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक स्थितियों पर निर्भर करता है। दक्षिण भारत में जब भक्ति आंदोलन की शुरुआत हुई। उस समय वहाँ के परिवेश और परिस्थितियों को जानने का प्रयत्न किया गया है। जो कि इस क्रांतिकारी आंदोलन के उद्‌भव में सहायक थी।

3.6.1 दक्षिण भारत की राजनीतिक परिस्थितियाँ

भारत का इतिहास पुस्तक में रोमिला थापर स्पष्ट करती हैं, ''मध्य छठी शताब्दीं के बाद तीन सौ वर्ष तक तीन मुख्य राज संघर्ष में व्यस्त रहे। ये राज्य थे बादामी के चालुक्य, कांचीपुरम् के पल्लव और मदुरई के पांड्य।''[59] ये तीनों मुख्य राज्यों की गणना में आते हैं। इनके अतिरिक्त ''दक्षिण भारत के राज्य–दक्षिण भारत में कल्याणी, वातापी (बादामी), बेंगी के चालुक्य, मान्यखेत के राष्ट्रकूट, वारंगल के काकतीय, वनवासी के कदम्ब, मैसूर के गंग एवं द्वारसमुद्र के होयसल प्रसिद्ध थे।''[60] दक्षिण के छोटे–छोटे राज्य पारस्परिक संघर्षों में लगे रहते थे। जिसके कारण धन–जन की अत्यधिक हानि होती थी। ''सम्राट सर्वशक्तिमान होता था। किंतु राजा को राज धर्म, स्मार्त पौराणिक व्यवस्था तथा लौकिक परंपरा के साथ ही केंद्रीय सत्ता को समयानुसार दुर्बल करने वाले सामंती ढ़ांचे के कारण सर्वथा निरंकुश मानना कठिन लगता है। वंशगत उत्तराधिकार के प्रचलन के कारण युवराज का प्रशासन में बहुत महत्त्व था। अनेक मंत्री तथा उत्तराधिकारी प्रशासन में राजा की सहायता करते थे।''[61] ''परंपरागत राजधर्म के अनुसार, प्रजाहित के विरुद्ध राजा कोई कार्य नहीं कर सकता था। प्रजा को अप्रसन्न करना राजा के हित के लिए खतरनाक होता था। अतएव राजा प्रजाहितैषी बनने की कोशिश करता था।''[62] धर्मों, सम्प्रदायों, वर्गों के विषय में प्रशांत गौरव कहते हैं, ''राज्य में उपलब्ध जातियों, निगमों, सम्प्रदायों गाँवों, मंदिरों और शेष सभी वर्गों के बीच शांति और व्यवस्था बनाए

रखना राजा का कर्तव्य था। राजा सभी धर्मों को एक नजर से देखता, ताकि राज्य में धार्मिक तनाव का वातावरण न बने। कर की दर निर्धारित करने का अधिकार पूर्ण रूप से राजा को नहीं था। सारे राज्य में एक ही दर से कर नहीं वसूला जाता था। सामंतो और मंदिरों द्वारा अलग–अलग कर लगाए जाते थे।''[63] दक्षिण भारत के प्रशासनिक मामलों में राज्यों की स्थिति अच्छी थी।

आठवीं शताब्दी के तीन दशकों से तेरहवीं शताब्दी के मध्य चोल साम्राज्य का अस्तित्व बना रहा। ''चोल सम्राट साम्राज्य विस्तार, प्रशासनिक संगठन तथा कलाकृतियों की समुचित उन्नति के लिए प्रसिद्ध थे।''[64] चोल सम्राटों के शासन में दक्षिण प्रदेश में काफी उन्नति हुई। ''चोल सम्राटों का युग (850–1200ई०) तमिल संस्कृति का स्वर्ण युग है। इसमें साहित्य का व्यापक सृजन हुआ और साहित्यकारों को संरक्षण भी मिला। शैव और वैष्णव साहित्य की प्रभूत रचना हुई। इसके साथ ही जैन और बौद्ध लेखक भी लेखन कार्य करते थे।''[65] नीलकंठ शास्त्री दक्षिण भारत में पांड्य पल्लव काल में हुई उन्नति के विषय में कहते हैं, ''पांड्य, पल्लव काल में धर्म, साहित्य और कला के क्षेत्र में महत्वपूर्ण उन्नति हुई x x x x पल्लव राजा महेंद्रवर्मन प्रथम, जिसे ठीक ही 'विचित्र चित्त' की उपाधि मिली थी, लेखक, वास्तु शिल्पी, संगीतज्ञ और चित्रकार था। उसके समय में जैन धर्म और बौद्ध धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव के विरूद्ध तीव्र प्रक्रिया प्रकट हुई, जो इससे प्रकट है कि शिव और विष्णु के पूजकों के बीच व्यापक रूप में भक्ति आंदोलन शुरू हुआ।''[66]

दक्षिण भारत की स्थिति राजनीतिक दृष्टिकोण से समृद्ध थी। राजाओं का व्यवहार अपनी प्रजा के प्रति अनुकूल था। विभिन्न राज्यों के राजाओं की आपसी प्रतिस्पर्धा एवं राज्य विस्तार की लालसा ही युद्ध का कारण थी। जिस कारण जनता में असंतोष व्याप्त था।

3.6.2 दक्षिण भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ

किसी भी देश का विकास, उस देश के समाज पर निर्भर करता है। समाज में विविध प्रकार के लोग होते हैं जिनका रहन–सहन, खान–पान, रीति–रिवाज भिन्न होते हैं। उनकी संस्कृति सदा एक–सी नहीं रहती। चूँकि संस्कृति परिवर्तनशील है। इसलिए उसमें समय के साथ परिवर्तन होता रहता है। जब समाज की स्थिति का वर्णन किया जाता है तब मुख्यतः वहाँ की स्त्रियों की दशा, कृषक व्यवस्था, दलितों की स्थिति का विशेष रूप से उल्लेख होता है। दक्षिण भारत की तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ इस प्रकार है–

दक्षिण भारत में तत्कालीन स्त्रियों की स्थिति का वर्णन कौलेश्वर राय इस प्रकार करते हैं, ''स्त्रियाँ अनेक सामाजिक बंधनों में जकड़ी हुई थीं। पर्दा प्रथा का विशेष प्रचार नहीं था, किंतु इसका यह अर्थ नहीं स्त्रियाँ बिल्कुल स्वतंत्र थी। वे पुनर्विवाह नहीं कर सकती थी, यद्यपि पुरुष बहुपत्नीवादी हो सकता था। स्त्रियाँ मनोरंजन का साधन मात्र ही समझी जाती थी। पति के निधन होने पर सती होना पुण्य कार्य समझा जाता था सामान्य घर की औरतें भी अपने पति की मृत्यु के बाद जल मरती थीं। कभी–कभी अनेच्छा से इस व्रत का पालन करती थीं और कभी–कभी समाज इसके लिए बाध्य करता था। बाल–विवाह का रिवाज नहीं था, किंतु बाल हत्या का रिवाज़ जोर पकड़ रहा था। उच्च घराने की स्त्रियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त करती थीं।''[67] समाज में उच्च वर्ग की स्त्रियों की परिस्थिति अपेक्षाकृत अच्छी थी। ''उच्चवर्ग की स्त्रियों को केवल संपत्ति का ही अधिकार नहीं था। वरन् वे प्रशासन के विभिन्न स्तरों पर भी कार्यरत थी। सजातीय विवाह को लोग अधिक अच्छा मानते थे। अंतर्जातीय विवाहों के कारण अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह भी प्रचलित थे।''[68] समाज में पर्दा प्रथा नहीं थी, किंतु सती प्रथा का उल्लेख प्राप्त होता है।

नीलकंठ शास्त्री ''दक्षिण भारत का इतिहास' पुस्तक में कहते हैं, 'जब किसी स्त्री का पति मर जाता था तो वह हरी चीजें (सब्जी) आदि खाना और ठंडे पानी में नहाना बंद कर देती थी। विधवाओं का जीवन दुर्वह होता था। उन्हें अपने बाल कटवा लेने पड़ते थे और आभूषणों का त्याग करना पड़ता था। वे बहुत सादा भोजन किया करती थीं।''[69] नीलकंठ शास्त्री यह भी उल्लेख करते हैं कि कुछ स्त्रियाँ अपने पति के साथ स्वेच्छा से भी मर कर सती होना पसंद करती थीं।

विविध प्रकार के राजनीतिक एवं धार्मिक विवादों एवं युद्धों के कारण भी स्त्रियों की दशा दयनीय रही। ''जिस प्रकार शासक वर्ग संघर्षों में लीन रहता था, उसी प्रकार वैष्णव, शैव, शाक्तों के अखाड़े भारत के बौद्धों और जैनों के साथ संघर्षों में लीन रहते थे। फलतः इन सामंतों के संघर्ष में अधिकतर युवा वर्ग मारा गया। अतः स्त्रियों की संख्या अधिक हो गई थी। अतः भारत के नगर सदाचारहीन स्त्रियों से भर गए थे।''[70] समाज में सती प्रथा, देवदासी प्रथा, वेश्यावृत्ति प्रचलित होने के कारण स्त्रियों की स्थिति गिर गई और उनकी पराधीनता बढ़ गई।

दक्षिण भारत में धार्मिक वेश्यावृत्ति की उत्पत्ति का प्रचलित कारण बताते है। प्रियदर्शिनी विजयश्री कहती हैं ''स्त्री–यौनता शक्ति सम्पन्न मानी जाती रही है। संगम साहित्य में ऐसे अनेक प्रसंग मिलते है जिनमें स्त्री–शरीर में दैवी शक्ति के निवास की बातें की गई हैं। इसकी रचना ईसा की आरम्भिक सदियों के दौरान हुई। उस दौर के सभी साहित्य स्त्री–स्तन के दैवी सत्ता के निवास स्थल होने के जिक्र से भरे पड़े है।''[71] दक्षिण भारत धार्मिक वेश्यावृत्ति का गढ़ माना जाता रहा है। ''पेशेवर नर्तकियाँ और धार्मिक वेश्याएँ दोनों ही उदार दानी थीं और जनकल्याण का कार्य किया करती थीं। घरेलू दायरे की स्त्री के बरअक्स वे कला और साहित्य में दक्ष और इसलिए सत्ताशालियों और बड़े लोगों को प्रभावित करने की क्षमता रखती थीं।''[72]

दक्षिण भारत में उच्च वर्ग की स्त्रियों की स्थिति, मध्यम एवं निम्न वर्ग की स्त्रियों की अपेक्षा अच्छी थी। उन्हें शिक्षा के अवसर प्राप्त होते थे। किंतु सती प्रथा एवं राजनीतिक संघर्षों के कारण उनके जीवन में भी असंतोष व्याप्त था। मंदिर एवं मठों के स्त्रियों की दुर्दशा का वर्णन मिलता है। धार्मिक वेश्यावृत्ति का ही अन्य नाम देवदासी के रूप में प्रचलित होने लगा। तत्कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति दयनीय ही थी।

दक्षिण प्रदेश में जनसंख्या का बड़ा भाग कृषि पर निर्भर था। नीलकंठ शास्त्री कृषकों की दासता की स्थिति का वर्णन इस प्रकार करते हैं ''छोटे किसान भी अपनी बचत के समय में दूसरे के यहाँ मजदूरी करने के लिए तैयार रहता था। रैयतवारी खेती भी पूर्ण रूप से

प्रचलित थी–खासकर मंदिरों तथा अन्य निगम संस्थाओं की जमीन पर और रैयतवारी की शर्तें मूल धर्मस्व में ही निश्चित रहती थी अथवा प्रत्येक मामले में वार्ता द्वारा तय होती थी। ऐसे रैयतों को इस प्रकार के अधिकार मिले होते थे कि जिस जमीन को वे जोतते थे, बहुत कुछ उसके वे आंशिक स्वामी से बन जाते थे।''[73] कृषकों की स्थिति मौसम पर निर्भर करती थी। भूमि पर दबाव बढ़ने के कारण कृषकों की स्थिति दयनीय होती गई। ''प्राक् सामंतीकाल के समान इनके लिए सिंचाई की व्यवस्था नहीं की गई। बाढ़ एवं सूखे की स्थिति में इन्हें मदद पहुँचाने की रूचि और आर्थिक क्षमता राजा के पास नहीं थी। युद्ध में व्यस्त रहने के कारण राजा को कृषकों की समस्याओं पर ध्यान देने की फुर्सत भी नहीं थी।''[74] राजतंत्र की ओर से भी किसान निराश ही मालूम पड़ते थे। ''सामंती प्रवृत्ति के कारण कृषकों पर अतिरिक्त करों का बोझ भी बढ़ता जा रहा था।''[75] ''कर की समस्या से कृषक वर्ग निरंतर जूझता रहता था। अतिरिक्त उपज से कृषकों को कुछ लाभ न होता, क्योंकि इससे जमींदार अधिक भाग की मांग करते।''[76] रामशरण शर्मा अपनी पुस्तक 'पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति' में लिखते हैं, ''चोलों तथा पांड्यों और दक्षिण भारत के अन्य राजवंशों के दानपात्रों में वेत्ति शब्द का उल्लेख बार–बार हुआ है। आंध्रप्रदेश एवं दक्षिण भारत के कतिपय अन्य हिस्सों में वेत्ति शब्द का अर्थ खेती–बारी के काम में इस्तेमाल किया जाने वाला बंधुआ मजदूर है।''[77] यह मजदूर सिर्फ नाममात्र की मजदूरी पर खेती बारी का काम किया करते थे। इसमें से कुछ बिल्कुल दासता की स्थिति में रहते थे। ''दैनिक मजदूरों को साधारणतः गल्ले के रूप में मजदूरी मिलती थी।''[78] नाममात्र की मजदूरी में जीविका चलाना खेतीहर मजदूरों एवं कृषकों दोनों के लिए ही दुर्लभ था। करों के बोझ एवं सामंती व्यवस्था के कारण कृषकों में असंतोष की भावना व्याप्त थी।

इस काल के अंतर्गत भारतीयों के सामाजिक जीवन में शिथिलता आ गई थी। ''तमिल प्रदेश में वर्ण व्यवस्था का प्रचलन आर्यों के दक्षिणी प्रदेश में प्रवेश के बाद निश्चित ही ब्राह्मण वर्ग को समाज में, धार्मिक कर्मकांड़ों में प्रधानता मिली लेकिन चूंकि चार्तुवर्ण्य की प्रतिष्ठापना उतनी कड़ाई से आर्येत्तर अन्य समुदायों में नहीं हो पाई थी।''[79] सामाजिक संबंधों में वर्ण चेतना के विषय में रोमिला थापर कहती हैं, ''समाज में वर्णों की

व्यवस्था में मुख्य बल ब्राह्मणों और अ–ब्राह्मणों के विभाजन पर दिया गया था..... शूद्रों का विभाजन शुद्ध शूद्र– जिनके स्पर्श से मनुष्य अपवित्र नहीं होता था एवं मलिन शूद्र– जिन्हें मंदिर में प्रवेश की अनुमति नहीं थी, के रूप में किया गया था।''[80] इस काल में नवनिर्मित शूद्र व अतिशूद्र, भारतीय समाज के बहुसंख्यक जन अत्यधिक गरीब बना दिए गए।

वर्ण व्यवस्था तमिल प्रदेश में स्वीकार कर ली गई थी। शासक वर्ग भी वर्ण व्यवस्था को कायम रखना अपना प्राथमिक कर्तव्य समझते थे। नीलकंठ शास्त्री इसके कारण स्पष्ट करते हैं, ''भोजन तथा विवाह के मामले में प्रचलित अत्यधिक सामाजिक अलगाव, किंतु साथ ही मंदिर तथा इससे संबंध संस्थाओं के प्रबंध, गाँव की भूमि तथा सिंचाई अधिकारों के विनिमय और सामान्यतः स्थानीय मामलों के प्रशासन के लिए उनके एक साथ मिलने एवं एक दूसरे के साथ सहयोग करने का यही कारण था।''[81] वर्ण व्यवस्था का विरोध तत्कालीन व्यवस्था में नहीं मिलता है। अपितु इसे कायम रखने की भावना सभी वर्गों में मिलती है।

प्रशांत गौरव स्पष्ट करते हैं, ''शूद्रों की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ। निस्संदेह उन्हें वेदाध्ययन की मनाही थी, किंतु स्मार्त अनुष्ठानों की इजाजत थी। सेना में वे भर्ती किए जाते थे। अनेक शूद्र सेना में नायक होते थे। कुछ तो छोटे–मोटे राजा भी होते थे।''[82] ब्राह्मर्ण वर्ग के प्रति लोगों की श्रद्धा थी। ब्राह्मणों को समाज में आदर एवं सम्मान प्राप्त था एवं शूद्रों के निवास के लिए ग्राम से बाहर व्यवस्था थी।

3.6.3 दक्षिण भारत की आर्थिक स्थिति

दक्षिण प्रदेश में जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग गांवो में रहता था। उनका मुख्य पेशा कृषि था। ''कृषि के अतिरिक्त पशुपालन भी एक मुख्य व्यवसाय था। प्रत्येक गाँव में चारगाह के लिए भूमि अलग छोड़ दी जाती थी।''[83] गाँव में कृषि की स्थिति अच्छी थी। जिस कारण कृषकों को जीवनयापन करने में अत्यधिक कठिनाई नहीं हो रही थी। कृषकों एवं खेतीहर मजदूरों को विविध समस्याएँ थी, किंतु वे आत्मनिर्भरता की स्थिति को प्राप्त थे।

''नागरिक जीवन का अनेक कारणों से इस काल में पर्याप्त विकास हुआ। उद्योग धंधों, व्यापार, कृषि से प्राप्त अधिक अधिशेष के कारण नगरीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा मिला। परिणामतः दक्षिण बंदरगाह बड़े समृद्ध नगर होते गए।''[84] व्यापार की दृष्टि से तमिल प्रदेश की स्थिति समृद्ध थी ''सिक्कों का प्रचलन था। सिक्के, सोने, चाँदी अथवा ताँबे के बने होते थे। अंतर्देशीय एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बड़े पैमाने पर होते थे। दक्षिण में कोरकाई, कावेरी पाड्डिनम्म आदि प्रसिद्ध बंदरगाह थे।''[85] व्यापार के कारण आर्थिक स्थिति अच्छी मानी जा सकती है। किंतु प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर कहती हैं ''सीमित उत्पादन और व्यापार के अभाव के फलस्वरूप सिक्कों के प्रयोग में कमी आई तथा अनेक प्रकार के स्थानीय बाटों और मापों के प्रचलन से व्यापार में और भी बाधा पड़ी। इन कारणों से दूर के क्षेत्रों में व्यापार करना कठिन हो गया। सामंतों और राजाओं का अतिरिक्त धन वस्तु उत्पादन अथवा व्यवसाय में नहीं लगता था– वह सारा का सारा फिजूल की चीजों पर खर्च कर दिया जाता था।''[86] व्यापारिक समृद्धि के कारण आर्थिक स्थिति उच्च हो सकती थी किंतु अकुशल शासन के कारण बाधाएँ आती रही।

दक्षिण भारत के आर्थिक जीवन में मंदिरों की एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। अनेक मंदिरों को व्यापारिक श्रेणियों ने दान दिया। ''कई मंदिरों ने अपने अधीन की भूमि में कृषि करने का अधिकार व्यापारिक समूह को दे दिया और बदले में तेल एवं अन्य आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करने लगे। ये व्यापारिक समूह मजदूरों से काम करवाते थे और अपने व्यापार की दृष्टि से खेतों में पैदावार करते थे। मंदिर को जितनी वस्तुएँ देने की शर्त पर वे खेत लेते उतनी वस्तुएँ वे अलग से मंदिरों को दे देते।''[87] मंदिरों की आर्थिक संवृद्धि होती गई ''तिरूपति, तंजवुर, चिदंबरम् आदि मंदिरों को इस प्रकार अभूतपूर्व सम्पदा प्राप्त होती गई। इससे मंदिरों के कर्मचारियों में भी वृद्धि हुई।''[88] ''मध्यकाल में हिंदू मंदिरों का निर्माण अधिक हुआ, क्योंकि मंदिर में पुजारी बनना आर्थिक दृष्टि से लाभदायक था।''[89] विकसित नवीन आर्थिक व्यवस्था ने सामंतों को धनी बना दिया। इसलिए अनेक विशालतम मंदिरों का निर्माण हुआ तथा देवदासियों की संख्या में वृद्धि हुई।

3.6.4 दक्षिण भारत की धार्मिक स्थिति

तत्कालीन दक्षिण प्रदेश में जैन, बौद्ध, शैव एवं वैष्णव धर्म मुख्यतः रूप से विद्यमान थे। सभी धर्मों के अपने दर्शन एवं मान्यताएँ थी। नीलकंठ शास्त्री के अनुसार ''प्रायः पाँचवी शताब्दी तक विभिन्न धार्मिक पंथों के आपसी संबंधों में सामंजस्य और सहिष्णुता का भाव रहा। एक ओर विस्तृत रूप से वैदिक यज्ञ होते थे तो उनके साथ–साथ रक्त और ताड़ी से प्राचीन छोटे–छोटे देवताओं की पूजा होती थी; लोकप्रिय देवताओं में मुरुगन, शिव, विष्णु, इन्द्र, कृष्ण और अन्य देवतागण शामिल थे।''[90] आर्य–अनार्य संस्कृतियों के परस्पर समन्वय से वे एक–दूसरे के देवी–देवताओं के प्रति श्रद्धा भाव से उपासना करने लगे।

दक्षिण प्रदेश में एक अभूतपूर्व परिवर्तन आया। पूरा प्रदेश बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रभाव में आ गया ''बौद्ध धर्म तथा तत्समान शास्त्र विरोधी धार्मिक सम्प्रदायों के प्रचार एवं पशुबलि की प्रथा के विरूद्ध गहरा प्रभाव पड़ा और इससे पुरोहित वर्ग के प्रभुत्व एवं प्रतिष्ठा को तथा वर्णव्यवस्था के नियमों को गहरा धक्का लगा।''[91] बौद्ध–जैन धर्म ने मूर्तिपूजा, धार्मिक आडम्बरों, जात–पात आदि का घोर विरोध किया। ब्राह्मण व पुरोहित वर्ग को इस धर्म से खतरा पैदा हुआ तब ब्राह्मण वर्ग ने परिस्थितियों को स्वंय के अनुकूल बनाने के लिए विविध साधन अपनाए। इस युग में बौद्ध एवं जैन धर्म का प्रचारात्मक वेग निरंतर बढ़ता जा रहा था। फलस्वरूप इन धर्मों का शैव एवं वैष्णव धर्मों द्वारा प्रत्यक्ष विरोध किया। ''इस युग में विभिन्न पंथों के समर्थक सार्वजनिक विवाद के लिए चुनौती दिया करते थे, जादूगरी के कारनामों में प्रतिद्वन्द्विता होती थी और अग्निपरीक्षा आदि के जरिए सिद्धांतों की जाँच होती थी। किसी प्रतिभाशाली संत या किसी और व्यक्ति के नेतृत्व में भक्तों के दल तमाम रास्ते नाचते, गाते एवं धार्मिक विवाद करते हुए देश का बार–बार भ्रमण करते थे।''[92] अहिंसा के पक्षधर इन सभी मतों एवं सम्प्रदायों ने जानवरों की हत्या न करने एवं शाकाहार पर तो जोर दिया किंतु राजाओं को युद्ध न करने की सलाह नहीं दी जबकि शासक वर्ग किसी न किसी मत का अनुयायी हुआ करता था।

ब्राह्मण वर्ग एवं सामंती वर्ग ने भी तरह–तरह के षडयंत्र रचे। ब्राह्मणों की तार्किकता के विषय में सुवीरा जायसवाल कहती हैं, ''वैदिक उपासना बहुत अधिक कठोर एवं अनम्य हो चुकी थी, तथा वैदिक यज्ञों को बड़े पैमाने पर पुनः प्रचलित करना नितांत व्यय साध्य था; इसलिए ब्राह्मणों ने वासुदेव कृष्ण संकर्षण की भक्तिमूलक उपासनाओं को अपनाकर इन देवताओं को शास्त्रसम्मत नारायण विष्णों के अवतारों के रूप में स्वीकार कर लिया। ताकि वे लोकप्रिय उपासनाओं में ब्राह्मणधर्मी सामाजिक आचार नीति भर सके और अपना प्रभुत्त्व पुनः स्थापित कर सके। इस शास्त्रसम्मत आर्य देवता नारायण विष्णु के साथ लोकप्रिय अनार्यमूलक देवता की अभिन्नता अनिच्छापूर्वक ही स्वीकार की गई थी।''[93] ब्राह्मण वर्ग द्वारा धार्मिक मान्यताओं एवं कठोर धार्मिक विधान, यज्ञों आदि को सरल बनाया गया तथा नीच जातियों के प्रति भी व्यवहार नम्र करने का उल्लेख मिलता है तथा यह सब जैन एवं बौद्ध मत के विरूद्ध ही किया गया था।

वैष्णव एवं शैव धर्म का एक और स्वरूप देखने को मिलता है जिससे पता चलता है कि विदेशी आक्रमणकारियों के साथ मिलकर इन्होंने बौद्ध–जैन धर्म की क्या दशा की। एच. लाल अपनी पुस्तक 'भारत के आदिनिवासियों का इतिहास' में बताते हैं, ''मध्यकाल में विदेशी मूल के शक व हूण शासकों ने अपने अधिकृत क्षेत्रों में वैष्णव और शैव मत आरंभ कर अखाड़े रूपी संगठन स्थापित कर वहाँ के बौद्धों और जैनों के आखेट का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने दिया। इस काल में बौद्ध विहारों के साथ बड़ी–बड़ी जागीरें थीं और उनमें काफी सम्पत्ति थी। उसे लूटने का इन्हें मौका हाथ लग गया था। अतः इन शासकों ने वैष्णव और शैव अखाड़ों का नेतृत्त्व कर हजारों बौद्धों व जैनों का कत्लेआम किया, बौद्ध विहारों की सम्पत्ति लूट ली, उनकी जागीरों पर अधिकार स्थापित कर लिया तथा उनमें रखी बौद्ध मूर्तियों और बौद्ध साहित्यों को नष्ट कर, उनकी चोटी लंबी कर मंदिरों का रूप देकर उनमें हिंदू देवी–देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित की।''[94]

3.6.5 कलागत एवं साहित्यिक परिस्थितियाँ

दक्षिण प्रदेश में राजनीतिक संघर्ष सांस्कृतिक विकास में कभी बाधक नहीं बने। चोल सम्राटों का युग तमिल संस्कृति का स्वर्ण युग है। ''इसमें साहित्य का व्यापक सृजन हुआ और साहित्यकारों को संरक्षण भी मिला।''[95] एक व्यापक तथा बहुमुखी धार्मिक पुनरूत्थान आंदोलन ने न सिर्फ जैन एवं बौद्ध के प्रसार को रोक दिया, बल्कि काफी परिणाम में आत्मा को उद्वेलित करने वाले भक्ति साहित्य का सृजन किया। ''इस धार्मिक जागरण की प्रेरणा पाकर वास्तुकला, शिल्पकला, चित्रकला एवं संगीत के क्षेत्र में विलक्षण प्रगति हुई।''[96] शैव और वैष्णव साहित्य की प्रभूत रचना हुई। इसके साथ ही जैन और बौद्ध लेखक भी लेखन कार्य करते थे।

दक्षिण भारत में सबसे विकसित साहित्य तमिल साहित्य को माना गया है। ''तमिल में सर्वप्रथम कृतियाँ ईस्वी संवत् की पहली सदियों में ही रची जा चुकी थी, किंतु विद्वान् तिरुवल्लुवर द्वारा रचित कुरल और शिल्पद्दीकारम् तथा मणिमेखलै जैसे महाकाव्यों को दूसरी से छठी सदियों के बीच की मानते हैं।''[97]

दक्षिण प्रदेश में स्थापत्य, चित्र, संगीत एवं नृत्य कलाओं का अत्यधिक विकास हुआ। ''दक्षिण भारत और विशेषकर तमिल क्षेत्र की विश्व में ख्याति का बहुत बड़ा आधार उसकी अपूर्व कांस्य देवी–मूर्तियाँ, भव्य विराट् गोपुरम् युक्त मंदिर, कर्नाटक संगीत में योगदान एवं भरतनाट्यम जैसा शास्त्रीय नृत्य है।''[98] मंदिर निर्माण की महेन्द्र शैली, मामल्ल शैली, राजसिंह शैली एवं नंदिवर्मन शैली इन चार शैलियों के माध्यम से वास्तुशैली का अद्वितीय विकास हुआ।

निष्कर्षतः वैष्णव भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए कह सकते है। आल्वारों का उद्‌गम तत्कालीन जनता के हृदय में रस का संचार कर सका। जनता में एक घोर निराशावाद छा गया था। आल्वार संतों ने जनता को उस निराशावादी धारणा से बाहर निकाला। आल्वार संत भारतीय संस्कृति के उद्‌घोषक थे। जीवन से संपृक्त रहते हुए भी आल्वार संत भगवान विष्णु तथा उनके कृष्णावतार की भक्ति का संदेश देते हुए भी जीवन से

विरक्त रहने का उपदेश कभी नहीं देते थे। आल्वार द्वारा रचित भक्ति साहित्य 'नालायिर दिव्य प्रबंधम्' में संगृहीत हैं। पांचवी शताब्दी से नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक विद्यमान ये बारह भक्त जिस भक्ति–काव्य का सृजन करते रहे, उससे सम्पूर्ण भारत में व्याप्त होने वाली वैष्णव भक्ति को एक ठोस आधार प्राप्त हुआ। दक्षिण भारत से बहती हुई यह पवित्र भक्ति की धारा उत्तर भारत में व्याप्त हुई; नवीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक कारणों से इसमें युगानुकूल परिवर्तन भी हुआ पर मूल स्वर अपरिवर्तित रहा।

संदर्भ सूची–

1. सं. एन. सुंदरम्; दिव्य प्रबंध, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2004, पृ.–14.
2. डॉ. राजम नटराजन पिल्लै; तमिल तथा हिंदी का वैष्णव भक्ति साहित्य, शुंभकर प्रकाशन, मुम्बई, सं. 2011, पृ.–1,2.
3. डॉ. ना. सुंदरम्; मीरा और आण्डाल का तुलनात्मक अध्ययन, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं. 1971, पृ.–25.
4. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2003, पृ.–111.
5. डॉ. ना. सुंदरम्; मीरा और आण्डाल का तुलनात्मक अध्ययन, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं. 1971, पृ.–27.
6. सुवीरा जायसवाल; वैष्णव धर्म का उद्‌भव और विकास, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, तीसरा सं. 2005, पृ.–212.
7. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–1, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–54.
8. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–1, इरंडाम तिरूवंतादि (पद 77), वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–225.
9. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–1, मून्राम् तिरूवंतादि (पद 51) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–308.
10. डॉ. पी. जयरामन, भक्ति के आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2003, पृ.–113.
11. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.–321.
12. सं. एन. सुंदरम्; दिव्य प्रबंध, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2004, पृ.–40.
13. वही, पृ.–52.
14. वही, पृ.–73.
15. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–3, कण्णिनुण चिरुतांबु (पद 3) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–230.

16. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–3, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ. –308.
17. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.–370.
18. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2003, पृ.–116.
19. संकलनकर्ता पा. वेंकटाचार्य; तिरुप्पावै, आण्डाल–गोदा देवी, श्री सेवा भारती, मारुति लेसर प्रिंटर्स, मद्रास, सं. 1995, पृ.–46.
20. डॉ. अमर सिंह वधान; तमिल साहित्य और संस्कृति, अभिषेक प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2006, पृ.–74.
21. सं. एन. सुंदरम्; दिव्य प्रबंध, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2004, पृ.–145.
22. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2003, पृ.–117.
23. सं. एन. सुंदरम्; दिव्य प्रबंध, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2004, पृ.–154.
24. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.–132.
25. सं. एन. सुंदरम्; दिव्य प्रबंध, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2004, पृ.–166.
26. डॉ. रविंद्र कुमार सेठ; तमिल वैष्णव कवि आल्वार, सं. 1986, साहित्य शोध संस्थान, नई दिल्ली–110005, पृ.–26.
27. डॉ. मलिक मोहम्मद; आल्वार भक्तों का तमिल प्रबंधम् और हिंदी कृष्ण काव्य, सं. 1969, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा–2, पृ.–465.
28. डॉ. मलिक मोहम्मद; वैष्णव भक्ति आंदोलन का अध्ययन, सं. 1971, राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ.–106.
29. डॉ. ना. सुंदरम्; मीरा और आण्डाल का तुलनात्मक अध्ययन, सं. 1971, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, इलाहाबाद, पृ.–21.
30. डॉ. सेवा सिंह; भक्ति और जन, सं. 2005, गुरूनानक देव युनिवर्सिटी, अमृतसर–143005, पृ.–134–135.
31. डॉ सेवा सिंह; भक्ति और जन, सं. 2005, गुरूनानक देव युनिवर्सिटी, अमृतसर–143005, पृ.–135.
32. रामस्वरूप चतुर्वेदी; हिंदी काव्य का इतिहास, सं. 2007, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–211001, पृ.–30.

33. डॉ. मलिक मोहम्मद; वैष्णव भक्ति आंदोलन का अध्ययन, सं. 1971, राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ.–293.
34. सुवीरा जायसवाल; वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास, दूसरा सं. 1996, तीसरा सं. 2005, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, बी 7, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092, पृ.–122.
35. वही, पृ.–125.
36. सं. एन. सुंदरम्, दिव्य प्रबंध, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2004, पृ.–17.
37. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–1, मुद्ल तिरूवंतादि (पद 7) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–29.
38. डॉ. पी जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–1, मुद्ल तिरूवंतादि (पद 15) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–38.
39. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–1, इरण्डाम तिरूवंतादि (पद 24) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–161.
40. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–1, मून्राम् तिरूवंतादि (पद 38) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–245.
41. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–2, नान्मुखन् तिरूवंतादि (पद 2) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–21.
42. विष्णु प्रकाश तिवारी; भारतीय चिंतन धारा, भावना प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1994, पृ.–166.
43. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2003, पृ.–216.
44. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–1, मून्राम् तिरूवंतादि (पद 70) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–327.
45. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–1, इरण्डाम तिरूवंतादि (पद 16) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–152.
46. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–3, पेरुमाल तिरुमोलि (पद 2) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–286.
47. स्पा. एन. सुंदरम्, दिव्य प्रबंध, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2004, पृ.–145.

48. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–2, नान्मुखन् तिरूवंतादि (पद 37) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–56.
49. डॉ. पी जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–3, तिरुविरूत्तम् (पद 1) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–23.
50. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2003, पृ.–220.
51. संपा. एन. सुंदरम्; दिव्य प्रबंध, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2004, पृ.–47.
52. वही, पृ.–70.
53. वही, पृ.–27.
54. डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–1, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ. –152.
55. डॉ. पी जयरामन; संत वाणी, खण्ड़–3, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2010, पृ.–110.
56. पं. रघुवीर सिंह शर्मा; वैष्णव धर्म एवं दर्शन, आभा प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1997, पृ.–42.
57. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परंपरा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, पृ.–247.
58. संकलनकर्ता पा. वेंकटाचार्य; तिरुप्पावै, आण्डाल–गोदा देवी, श्री सेवा भारती, मारुति लेसर प्रिंटर्स, मद्रास, सं. 1995, पृ.–10.
59. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, सं. 2012, पृ.–153.
60. कौलेश्वर राय; प्राचीन भारत, किताब महल, इलाहाबाद, पंचम सं. 2007, पृ.–505.
61. सं. हरिश्चंद्र वर्मा; मध्यकालीन भारत (भाग–1) 750–1540, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, तृतीय सं. 1997, पृ.–71.
62. कौलेश्वर राय, प्राचीन भारत, किताब महल, इलाहाबाद, पंचम सं. 2007, पृ.–507.
63. प्रशांत गौरव; पूर्व मध्यकालीन भारत (लगभग 550–1200 ई०), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला सं. 2009, पृ.–284.
64. सं. हरिश्चंद्र वर्मा; मध्यकालीन भारत (भाग–1) 750–1540, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, तृतीय सं. 1997, पृ.–73.
65. कौलेश्वर राय; प्राचीन भारत, किताब महल, इलाहाबाद, पंचम सं. 2007, पृ.–483.

66. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.—4.
67. कौलेश्वर राय; प्राचीन भारत, किताब महल, इलाहाबाद, पंचम सं. 2007, पृ.—509.
68. सं. हरिश्चंद्र वर्मा; मध्यकालीन भारत (भाग—1) 750—1540, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, तृतीय सं. 1997, पृ.—76.
69. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.—114.
70. एच. लाल; भारत के आदिनिवासियों का इतिहास, खण्ड़—1, त्रिवेनी प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं. 2003, पृ.—114.
71. प्रियदर्शिनी विजयश्री; देवदासी या धार्मिक वेश्या?, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2010, पृ. —28.
72. वही, पृ.—118.
73. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.—284.
74. कौलेश्वर राय; प्राचीन भारत, किताब महल, इलाहाबाद, पंचम सं. 2007, पृ.—509.
75. सं. हरिश्चंद्र वर्मा, मध्यकालीन भारत (भाग—1) 750—1540, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, तृतीय सं. 1997, पृ.—76.
76. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, सं. 2012, पृ.—221.
77. रामशरण वर्मा; पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1996, चौथी आवृति 2013, पृ.—27.
78. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.—284.
79. डॉ. राजम नटराजन पिल्लै; तमिल तथा हिंदी का वैष्णव भक्ति साहित्य, शुंभकर प्रकाशन, मुम्बई, सं. 2011, पृ.—20.
80. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, सं. 2012, पृ.—192.
81. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.—276.

82. प्रशांत गौरव; पूर्व मध्यकालीन भारत (लगभग 550–1200 ई०), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला सं. 2009, पृ.–308.
83. कौलेश्वर राय; प्राचीन भारत, किताब महल, इलाहाबाद, पंचम सं. 2007, पृ.–477.
84. संपा. हरिश्चंद्र वर्मा, मध्यकालीन भारत (भाग–1) 750–1540, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, तृतीय सं. 1997, पृ.–76.
85. कौलेश्वर राय, प्राचीन भारत, किताब महल, इलाहाबाद, पंचम सं. 2007, पृ.–512
86. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, सं. 2012, पृ.–221.
87. प्रशांत गौरव; पूर्व मध्यकालीन भारत (लगभग 550–1200 ई०), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला सं. 2009, पृ.–308.
88. सं. हरिश्चंद्र वर्मा; मध्यकालीन भारत (भाग–1) 750–1540, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, तृतीय सं. 1997, पृ.–78.
89. एच. लाल; भारत के आदिनिवासियों का इतिहास, खण्ड़–1, त्रिवेनी प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं. 2003, पृ.–214.
90. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.–366.
91. सुवीरा जायसवाल; वैष्णव धर्म का उद्‌भव और विकास, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, तीसरा सं. 2005, पृ.–66.
92. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.–367.
93. सुवीरा जायसवाल; वैष्णव धर्म का उद्‌भव और विकास, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, तीसरा सं. 2005, पृ.–66.
94. एच. लाल; भारत के आदिनिवासियों का इतिहास, खण्ड़–1, त्रिवेनी प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं. 2003, पृ.–203.
95. कौलेश्वर राय; प्राचीन भारत, किताब महल, इलाहाबाद, पंचम सं. 2007, पृ.–483.
96. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.–124
97. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ.–141
98. .डॉ. राजम नटराजन पिल्लै; तमिल तथा हिंदी का वैष्णव भक्ति साहित्य, शुंभकर प्रकाशन, मुम्बई, सं. 2011, पृ.–22.

चतुर्थ अध्याय – अष्टछाप कवि : पर्यालोचन

4.1 अष्टछाप भक्ति का स्वरूप एवं समय

4.2 अष्टछाप कवियों का परिचय : वार्ताओं एवं भक्तमालों के अनुसार

सूरदास, परमानंददास, कुंभनदास, कृष्णदास, नंददास, छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, चतुर्भजदास

4.3 अष्टछाप कवि के काव्य का दार्शनिक आधार– ब्रह्म, जीव, जगत, माया, मोक्ष

4.4 उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि

4.4.1 उत्तर भारत की राजनैतिक परिस्थितियाँ

4.4.2 उत्तर भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ

4.4.3 उत्तर भारत की आर्थिक परिस्थितियाँ

4.4.4 उत्तर भारत की धार्मिक परिस्थितियाँ

4.4.5 उत्तर भारत की कलागत एवं साहित्यिक परिस्थितियाँ

चतुर्थ अध्याय

अष्टछाप कवि : पर्यालोचन

4.1 अष्टछाप कवियों की भक्ति का स्वरूप एवं समय

मध्ययुगीन कृष्ण भक्ति साहित्य में वल्लभ सम्प्रदाय के अष्टछाप कवियों का महत्वपूर्ण स्थान है। अष्टछाप कवियों को 'अष्टसखा' भी कहा जाता है। जिनकी पुष्टिमार्गीय भक्ति थी। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में ''यों तो पुष्टिमार्ग को स्वीकार करने वाले अनेक भक्त उस समय विद्यमान थे, किंतु जिन आठ भक्त कवियों पर गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपने आर्शीवाद की छाप लगायी थी वे 'अष्टसखा' या अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध हैं।''[1] श्री वल्लभाचार्य ने 'शुद्धाद्वैत सिद्धांत' के साथ पुष्टिमार्गीय भक्ति का आधार कृष्ण को माना है। पुष्टिमार्गीय भक्ति सामाजिक विकास पर केंद्रित थी। वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने 1565 ई० में अष्टछाप की स्थापना की। इन आठ भक्त कवियों में सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास एवं कृष्णदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। अन्य चार गोविंदस्वामी, नंददास, छीतस्वामी और चतुर्भजदास, विट्ठलनाथ के शिष्य थे। श्रीनाथ जी की सेवा में समर्पित अष्टछाप कवि उनकी लीला भावना के अनुसार समय और ऋतु के रागों द्वारा कीर्तन किया करते थे। वे भगवान श्री कृष्ण के अंतरंग सखा थे, जो उनकी चिरंतर लीलाओं में सदैव उनके साथ रहा करते थे। वल्लभसम्प्रदाय में सेवाविधि का उल्लेख करते हुए डॉ. नगेंद्र कहते हैं, ''अष्टयाम की सेवा–मंगलाचरण, श्रृंगार, ग्वाल, राजयोग, उत्थापन, भोग, संध्या–आरती और शयन को इस सम्प्रदाय में बड़े समारोह से स्वीकार किया गया है।''[2] सभी अष्टछाप कवियों की भक्ति भावना इतनी प्रगाढ़ थी, कि उन्हें अहर्निश श्रीनाथ जी के सान्निध्य का आभास होता रहता था। वे अनुभव करते थे। कि श्रीनाथ जी सदैव उनके साथ रहकर उनसे वार्तालाप करते हैं, नाना प्रकार के खेल खेलते हैं, यहाँ तक की हास्य विनोद भी करते हैं। इन कवियों की जन्म–मरण

की तिथियाँ विवादास्पद है। दीनदयालु गुप्त ने अष्टछाप कवियों का समय निम्न प्रकार निर्धारित किया है।

सूरदास	सं० 1535 – 1639
परमानंददास	सं० 1550 – 1640
कुंभनदास	सं० 1525 – 1639
कृष्णदास	सं० 1552 – 1632
नंददास	सं० 1590 – 1639
चतुर्भुजदास	सं० 1597 – 1642
गोविंदस्वामी	सं० 1562 – 1642
छीतस्वामी	सं० 1567 – 1642

अष्टछाप कवियों की भक्ति वात्सल्य, सख्य, दैन्य, दास्य एवं आत्मनिवेदन आदि भावना की भक्ति है। आचार्य शुक्ल ने 'त्रिवेणी' में सूर द्वारा किए गए वात्सल्य एवं श्रृंगार के मनोरम पक्ष को इस प्रकार उद्घाटित करते हैं, ''बाल्यकाल और यौवनकाल कितने मनोहर हैं, उनके बीच की नाना मनोरम परिस्थितियों के विशद् चित्रण द्वारा सूरदासजी ने जीवन की जो रमणीयता सामने रखी, उससे गिरे हुए हृदय नाच उठे।''[3] कृष्ण भक्त कवियों ने तत्कालीन समय में जनता के रूक्ष हृदय में मनोहर गायन द्वारा रस का संचार किया।

अष्टछाप कवियों ने निर्गुण मत का डटकर विरोध किया। अष्टछाप कवियों ने गोपियों के माध्यम से निर्गुण ज्ञानवाद की ओर व्यंग्य किया है तथा कृष्ण के प्रति अपने प्रेम की एकनिष्ठता और अनन्यता का परिचय दिया है। 'भ्रमरगीत सार' में सूर का पद दृष्टवय है जिसमें गोपियों द्वारा उद्धव का निर्गुण ब्रह्म का उपदेश असहनीय होने पर निर्गुण ब्रह्म संबंधी मनोरंजकपूर्ण प्रश्न पूछकर उसकी हँसी उड़ाई है। गोपियों को उद्धव के निर्गुण ब्रह्म पर विश्वास नहीं है।

'निर्गुण कौन देस को बासी?

मधुकर! हँसि समुझाय, सौंह दै बूझती सांच, न हाँसी।।

को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी?

कैसो बरन भेस है कैसो केहि रस में अभिलासी।।

पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे! कहैगो गाँसी।

सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सो सूर सबै मति नासी।।'[4]

अष्टछाप कवि कृष्ण के माधुर्य रूप के वर्णन में ही मन रमाये हुए थे। बच्चन सिंह कहते हैं, ''चूँकि कृष्णभक्ति में उनकी लीला का ही वर्णन था इसलिए यह मुसलमान भक्तों के छन्दों में भी बँधी। सामंती बंधनों में जकड़े स्त्री–पुरुष को मुक्तभाव से स्वच्छंद प्रेम–गान का अवसर मिला।''[5] तत्कालीन समय में प्रेम पर कड़े बंधन थे। सामाजिक रूढ़ियों से ग्रस्त समाज में राधा–कृष्ण के माध्यम से प्रेम का खूब गायन हुआ। रामविलास शर्मा भी स्पष्ट करते हैं, ''सूर ने राधा और गोपियों के प्रेम में भारतीय नारी के हृदय में छिपी हुई प्रेम की प्यास को वाणी दी।''[6] भजन–कीर्तन आदि के माध्यम से नारियों ने अपने हृदय की प्रेमाभिव्यक्ति के साथ–साथ विरह का वर्णन भी राधा कृष्ण का उपमान लेकर गाया।

विद्यापति और जयदेव की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए कृष्णभक्त कवियों ने श्रृंगारिक रचनाएं की हैं, किंतु अष्टछाप कवियों की रचनाएं संयमित है। कहीं कहीं पर उसी परंपरा का निर्वहन करते हुए उन्होंने अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति के लिए कृष्ण का मधुर रूप ही पर्याप्त समझा। आचार्य शुक्ल कृष्णभक्त कवियों की रचनाशीलता के पक्ष में मत प्रकट करते हैं, ''सब सम्प्रदायों के कृष्णभक्त कवियों में वर्णित कृष्ण की ब्रजलीला को ही लेकर चले क्योंकि उन्होंने अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति के लिए कृष्ण के मधुर रूप को ही प्र्याप्त समझा। महत्व की भावना से उत्पन्न श्रद्धा या पूज्यबुद्धि का अवयव छोड़ देने के कारण कृष्ण के लोकरक्षक और धर्म संस्थापक स्वरूप को सामने रखने की आवश्यकता उन्होंने न समझी। भगवान के मर्मस्वरूप को इस प्रकार किनारे रख देने से उसकी ओर आकर्षित होने और आकर्षित करने

की प्रवृति का विकास कृष्णभक्तों में न हो पाया। फल यह हुआ कि कृष्णभक्त कवि अधिकतर फुटकर श्रृंगारी पदों की रचना में ही लगे रहे।''[7] राधा कृष्ण को आलम्बन बनाकर इन कवियों ने श्रृंगारिक पदों की रचना की, जिसे ही आगे रीतिकाल के लिए प्रशस्त किया हुआ मार्ग माना जाने लगा। गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार, 'नैतिकता, मर्यादा एवं लोकमंगल की उपेक्षा के कारण इस साहित्य का जनता के चरित्र पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। इस काव्य दीपक ने आगे चलकर अश्लील श्रृंगारिकता का कज्जल उत्पन्न किया। रीतितत्त्वों का समावेश भी सूरदास एवं नंददास जैसे कवियों ने अपने काव्य में किया है। अतः कहा जा सकता है कि परवर्ती रीतिकाल के प्रवर्तन में इन कवियों ने प्रत्यक्ष में गहरा योग दिया है।'[8] आलोचकों द्वारा यह बात स्वीकार की जाती है कि रीतिकाल के प्रवर्तन में कृष्णभक्त कवियों का भी योगदान है तथा साथ–साथ यह भी स्वीकार करते हैं, ''अष्टछाप के कवि बहुत कुछ अन्तर्मुखी थे। उन्होंने तत्कालीन समाज या परिस्थितियों के प्रति मुँह मोड़ लिया था। उनके लिए केवल श्रीनाथ जी का मंदिर ही बैकुण्ठ था। न वे कहीं बहुत दूर–दूर जाते थे, न ही धर्म के प्रचार में वाद–विवादों में पड़ते थे।''[9] अष्टछाप कवि गोवर्धन पर विराजमान श्रीनाथ स्वरूप की भक्ति उपासना कर उन्हें ही रीझाने में लगे रहे। उन्होंने दक्षिण के संतों की भांति घूम–घूम कर धर्म के प्रचारार्थ कोई कार्य नहीं किया।

अष्टछाप भक्त कवियों की रचनाएं भले ही श्रृंगार रस से ओत–प्रोत हो किंतु उनकी रचनाओं में प्रेमभक्ति के योग से अष्टांग योग को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। नंददास भक्ति की श्रेष्ठता बताते हुए 'दशम स्कंध भाषा भागवत' में कहते हैं–

'हे प्रभु पाछे बहुतक भोगी, तजि तजि भोग भये भल जोगी।

ह्वि अष्टांग जोग अनुसरे, ग्यान हेतु बहुत तप करे।।

अति श्रम जानि कहाँ तैं फिरे, तुम कहुं कर्म समर्पन करे।

तिनकर सुद्ध भयो मन मर्म, तब लीने प्रभु तुम्हें कर्म।।

कथा श्रवन तहि पाई भक्ति, जाके संग फिरत सब मुक्ति।

ता करि आत्म तत्त्व कौं पाइ, बैठे सहज परम गति पाइ।।'[10]

प्रस्तुत पद में नंददास कहते हैं कि हे प्रभु! भोगी जनों ने योग का मार्ग अपनाकर अष्टांग योग का अनुसरण किया। ज्ञान प्राप्ति हेतु बहुत तप किये। अंततः अपने सभी कर्म आपको ही समर्पित कर दिए। कथा श्रवण के माध्यम से ही भक्ति पाकर मुक्ति को प्राप्त किया। इसी प्रकार कुंभनदास भी सदैव अपने इष्ट के स्वरूप में खोए रहते थे। कुंभनदास की गोपियों की स्थिति भी सूर की गोपियों की भांति ही विरह दशा की मूक पीड़ा की उद्भावनाएं उत्पन्न करती हैं

'कहा करौं उह मूरति मेरे जिय तें न टरई।

सुंदर नंद कुंवर के बिछुरे तिसि दिन नींद न परई।।

बहु विधि मिलन प्रान प्यारे की सु एक निमिख न बिसरई।

वे गुन समुझि–समुझि चित्त नैननि नीर निरंतर ढ़रई।।

कछु न सुहाई तलाबेली मन, विरह अनल तन जरई।

'कुंभनदास' लाल गिरधर बिनु समाधान को करई।।'[11]

अष्टछाप कवियों की रचनाओं में मिलन का उत्साह है एवं बिछोह की व्याकुलता का चित्रण है। वात्सल्य रस से ओत प्रोत रचनाएं अनुपम है। शृंगारिक रचनाएं प्रेम एवं माधुर्य भाव की भक्ति की है। यह एकनिष्ठ प्रेम श्रीनाथ को ही समर्पित है। उन्होंने दरबारी कवियों की भांति राजप्रशंसा के गीत नहीं गाए। राजदरबार तक जाना भी उन्हें अरूचिकर लगता था। उन्होंने मुक्त कण्ठ से श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का गायन किया है।

4.2 'वार्ता साहित्य' एवं 'भक्तमालों' के अनुसार अष्टछाप कवियों का विवरण

वार्ता साहित्य एवं भक्तमालों को कृष्ण भक्त कवियों को समझने का प्रमाणिक स्रोत माना जाता है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में वल्लभाचार्य के शिष्य सूरदास, परमानंददास, कुंभनदास, कृष्णदास से संबंधित सामग्री ज्ञात होती है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में नंददास, चतुर्भुजदास, गोविंदस्वामी एवं छीतस्वामी का वर्णन है। भक्तमालों एवं भक्तमाल की टीकाओं में इनके जीवन से संबंधित प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध होती है। वार्ता साहित्य ब्रज भाषा में लिखा गया है। विश्वनाथ त्रिपाठी स्पष्ट करते हैं, ''रामानंद के शिष्यों में से एक अनंतानंद थे। उनके शिष्य कृष्णदास पयहारी थे। ये सन् 1575 के आसपास वर्तमान थे। उन्हीं कृष्णदास पयहारी के शिष्य प्रसिद्ध भक्त नाभादास थे। नाभादास की रचना भक्तमाल का हिंदी साहित्य में अभूतपूर्व ऐतिहासिक महत्व है। इसकी रचना में 200 भक्तों का चरित्र 396 छप्पयों में वर्णित है। इसका उद्देश्य तो जनता में भक्ति का प्रचार था, किंतु आधुनिक इतिहासकारों के लिए यह हिंदी साहित्य के इतिहास का महत्त्वपूर्ण आधार ग्रंथ सिद्ध हुआ है। अवश्य ही इसमें भक्तों के चरित्र का वर्णन चमत्कारपूर्ण है, किंतु उसे मध्यकालीन वर्णन शैली के रूप में ग्रहण करना उचित है। इन चमत्कारिक वर्णनों से तत्कालीन जनता की मानसिकता का पता चलता है। मध्यकाल में तथ्यपरता पर कम ध्यान रहता था, वहाँ भाव प्रधान था, तथ्य गौण।''[12]

नाभादास के शिष्य प्रियादास द्वारा भक्तमाल की टीका लिखी गई है। दीनदयालु गुप्त के अनुसार 'भक्तमाल की रचना के 90 वर्ष बाद सं० 1769 में नाभादास जी शिष्य परम्परा में होने वाले भक्त प्रियादास जी ने ''भक्ति–रस–बोधिनी'' नाम की टीका छंदों में लिखी।'[13] भक्तमाल की और भी टीकाएँ लिखी गई हैं। किंतु अधिक प्रमाणिक प्रियादास कृत टीका को माना गया है। प्रियादास कृत भक्तमाल में ऐतिहासिक सामग्री की न्यूनता है। इसमें

भक्तों के वृतांत तत्कालीन प्रचलित किवदन्तियों के आधार पर दिए गए है। तथा भक्तों के चरित्र से संबंधित चमत्कारिक घटनाओं का उल्लेख मिलता है।

इसी श्रृंखला में राघवदास कृत भक्तमाल की सामग्री का भी विशेष स्थान है। दादूपंथी कवियों में राघवदास द्वारा सबसे बड़ी एवं महत्वपूर्ण भक्तमाल बनाई गई है। नाभादास की भक्तमाल के अनुकरण से ही सं० 1717 में इसकी रचना हुई है। इसमें अनेक संत एवं भक्तजनों का उल्लेख है, जिनका वर्णन नाभादास कृत भक्तमाल में नहीं है। कवि राघवदास दादूपंथी सम्प्रदाय के थे, इसलिए दादूपंथी सम्प्रदाय के कवियों का वर्णन तो भक्तमाल में मिलता ही है साथ ही साथ मुसलमान, चारण आदि अनेक भक्तों का विवरण भी है। जिनके संबंध में और किसी भक्तमाल ने कुछ नहीं कहा है, इसलिए इस भक्तमाल की अपनी विशेषता है और यह ग्रंथ बहुत ही महत्वपूर्ण है। राघवदास कृत भक्तमाल के टीकाकार चतुरदास है। प्रियादास की टीका को देखकर चतुरदास ने इन्दव छंद में इस टीका की रचना की। राघवदास कृत भक्तमाल में सूरदास, नंददास, परमानंददास, कृष्णदास, गोविंदस्वामी अष्टछाप कवियों का वर्णन मिलता है।

सूरदास

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सर्वप्रथम गोसाईं जी का तथा सूरदास के मिलन का वर्णन मिलता है। सूरदास गऊघाट पर वल्लभाचार्य से मिलने आते हैं। वल्लभाचार्य सूरदास से भगवद्यश वर्णन करने को कहते हैं तब सूरदास गाते हैं–

'हों हरि सब पतितन को नायक।

को करिसकें बराबर मेरी इतने मान के लायक।।'[14]

इस पद में सूरदास स्वंय को सब पतितन को नायक कहते हैं। तभी एक ओर पद गाते हैं जिसमें स्वंय को पतितन को टीकौ कहते हैं–

'प्रभुमें सब पतितनकोटीकौ।।

और पतित सब द्यौसचरिकें मैं तो जन्महीकौ।।

बधिक अजामिलि गनिका त्यारी और पूतनाहीकौ।।

मोहि छोड़ि तुम और उधारै मिटै शूलकेसे जीकौ।।

कोउ न समरथ सेब करनका खेचि कहतही लीकौ।।

मरियतलाज सूरपति तनमें कहत सबनमें नीकौ।।'[15]

प्रस्तुत पद में सूरदास अपनी दैन्य अवस्था का वर्णन करते हुए स्वंय को पतितों का टीका और जन्म से ही पतित बताते हैं। उन्हें छोड़ अजामिल, गणिका एवं पूतना का उद्धार करना उन्हें शूल के समान चुभ रहा है। वह लाज के मारे मरे जा रहे है। फिर भी सभी से कह रहे है कि वह ठीक हैं।

प्रियादासजी की टीका में अष्टछापी सूरदास के विषय में जन्म, जन्मस्थान, वंश, जाति आदि की जानकारी प्राप्त नहीं होती। सूरदास की भक्ति एवं काव्य की प्रशंसा में भक्तमाल में छप्पय मिलता है।

''सूर'' कबित सुनि कौन कबि, जो नहिं सिर चालन करे।

उक्ति, चोज, अनुप्रास, बरन अस्थिति, अति भारी।।

बचन प्रीति निर्बाह, अर्थ अद्‌भुत तुक धारी।

प्रतिबिंबित दिबि दिष्टि हृदय हरि लीला भासी।।

जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी।

बिमल बुद्धि गुन और की, जो यह गुनश्रवननि धरै।

''सूर'' कबित सुनि कौन कबि, जो नहिं सिर चालन करै।।[16]

प्रस्तुत छप्पय में सूरदास की प्रशंसा की गई है। ऐसा कौन सा कवि है, जो सूरदास की प्रशंसा में सिर ना हिलावै। उनकी कविता के अनुपम सौंदर्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उनकी कविता में बड़ी भारी नवीन उक्तियाँ, चोज, चातुर्य, अनूठे अनुप्रास एवं कविता के तुकों में अद्‌भुत अर्थ भरा है। उन्होंने कृष्ण की लीलाओं को अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर उनका वर्णन किया है।

वार्ता में सूरदास का देशाधिपति (अकबर) से मिलने का एक प्रसंग आता है। प्राचीन भारत के इतिहास से पता चलता है कि राजा–महाराजा अपनी आत्मप्रशंसा सुनने के लिए दरबारी कवियों को रखा करते थे। इस प्रशंसा के बदले में उन्हें उपहार के रूप में मुद्रा देकर प्रशंसा सुननी चाही ''जो सूरदास जी में सुन्यों है जो तुमने बिसन पद बहु कीये हैं जो मोको परमेश्वरनें राज्य दीयौ है सो सब गुनीजन मेरौ जस गावत हैं ताते तुमहूं कछू गावौ तब सूरदास जी ने देशाधिपति के आगे कीर्तन गायो सो पद– मनारे तू करि माधौसों प्रीति।''[17] सूरदास ने संपूर्ण करके यह पद गाया और सूरदास के इस पद से देशाधिपति समझ गए कि इन्हें किसी बात का लालच हो तो मेरा यश गाए। ये परमेश्वर के जन है। सूरदास जी इस पद के अंत में गाते हैं ''हो तो सूर ऐसे दर्शको इमरत लोचन प्यास''[18] सूरदास दृष्टिविहीन थे और ऐसा पद गाने पर देशाधिपति सूरदास से प्रश्न करते हैं ''जो सूरदासजी तुम्हारे तो देखियत नाहीं सो प्सासे कैसे मरत है और बिन देखे लोचन तुम उपमा को देत हौ सो तुम कैसे देत हौ तब सूरदासजी कछु बोलत नाहीं फेरि देशाधिपति बोलौ जो इनके लोचन है सोतो परमेश्वर के पास है सो ऊंहा देखत है सो वर्णन करत है।''[19] सूरदास से पूछने पर कि तुम्हें तो दिखता नहीं है फिर दर्शन बिन प्यासे कैसे मरते हो। बिन देखे उपमा कैसे देते हो। सूरदास देशाधिपति का यह प्रश्न सुनकर चुप रहते हैं और देशाधिपति उत्तर स्वंय ही समझ जाता है कि इनके नैन तो परमेश्वर के पास हैं जो वहाँ देखते है उसी का वर्णन करते हैं।

अष्टछाप कवियों के समय मुगलों का शासन विद्यमान था। प्रस्तुत प्रसंग में देशाधिपति अकबर के लिए प्रयोग किया गया है सूर, तुलसी, मीरा समकालीन माने गए हैं। अकबर की इन तीनों से भेंट हुई ऐसा वर्णन इतिहास में मिलता है। वार्ता साहित्य से ज्ञात होता है कि मुगल शासक भी इन संत–भक्त कवियों को सुनने को लालायित रहते थे। दरबार

में इनका आदर–सम्मान होता था। अपितु मुगल शासन भी इनकी गृह भूमि में इनसे मिलने जाते थे। वार्ता में सूरदास को 'पुष्टि मार्ग का जहाज' कहा गया है। वल्लभाचार्य जी अपने शिष्यों से कहते हैं कि पुष्टिमार्ग का जहाज जा रहा है। वल्लभाचार्य जी सूरदास के अंत समय उनसे पद सुनाने को कहते हैं तब सूरदास अपनी अटल आस्था और आत्मनिवेदन प्रकट करते हुए गाते हैं।

'भरौसो दृढ़ इन चरणनकेरौ।।

श्री वल्लभनचन्द्रछटाबिनु सब जगमांझि अन्धेरौ।।

सधन और नहीं या कलिमें जासोंहोतनिबेरौ।।

सूर कहा कहि दुबिधिआधिरौ विनामोलकौचेरौ।।'[20]

परमानंददास

सूरदास के पश्चात् अष्टछाप कवियों में परमानंददास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परमानंददास का जन्म चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अनुसार कन्नौजिया ब्राह्मण के घर हुआ। उनकी भक्ति बाल, कांता एवं दास्य भाव की थी। यह अष्टछाप कवियों में विरह गान में सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। वार्ता साहित्य के अनुसार परमानंददास कन्नौज से प्रयाग आए। ये कीर्तन बहुत अच्छा गाते थे। इनका कीर्तन सुनने बहुत दूर से लोग आते। परमानंददास कृष्ण के परम सखा हैं। सखा से बिछुड़ने का भाव इनके पदों में व्यक्त हुआ है। परमानंददास जब कीर्तन करते तो विरह के पदों में ही उनका मन रमता। गोपियों की दयनीय दशा का चित्रण इनके अनेक पदों में होता है

'जियकी साधन जियहीरहीरी।।

बहुरी गोपाल देखि नाहीं पाए बिलपतकुंजअहीरी।।

एक दिनसो जसमीप यह मारग वेचन जातदहीरी।।

प्रीतके लिए दानमिस मोहन मेरी बाँहगहीरी।।

बिन देखे घड़ी जातकलपसम विरहाअनलदहीरी।।

परमानंद स्वामी बिन दर्शन नैननींदबहीरी।।[21]

प्रिय से बिछुड़ने का दुख उनके पदों में बहुधा नजर आता है। 'वार्ता साहित्य' में एक प्रसंग आता है जब परमानंददास श्री वल्लभाचार्य की सेवा में आते हैं। तब वल्लभाचार्य उन्हें भगवद्यश गाने को कहते हैं। परमानंददास विरह पद गाने लगते हैं। वल्लभाचार्य उन्हें बाललीला का वर्णन करने के लिए कहते हैं। तब परमानंददास कहते हैं, कि मैं बाललीला नहीं जानता। तब वल्लभाचार्य उन्हें नवनीतप्रियाजी के दर्शनों का स्मरण कराते हैं। वार्ता साहित्य में वल्लभाचार्य जी के शब्दों में कहीं गई पंक्ति ''जो ये ठाकुर जी सो बिछुरे है सो बिछुरे के दुःख की स्फूर्ति रही और संयोग जो सुख भयौ ताको विस्मरण भयौ।''[22] तब परमानंददास को नवनीतप्रिया की छवि याद आती है और वह बाललीला गाने लगते हैं

'माईरीकमल नैनश्यामसुन्दरझूलतहैपलना।।

बाललीलागावतं सबगोकुलके ललना।।

अरूणतरूणकमलनखममनिजसजोति।।

कुंचितकचमकराकृत लटकतगजमोती।।

अंगूठागहिकमलपानमेलमुखमाहीं।।

अपनोंप्रतिबिम्बदेखिपुनिपुनिमुसकाहि।।

जसुमतिके पुन्यपुन्जरवारलाले।।

परमानंदस्वमीगोपालसुतसनेहपाले।।'[23]

प्रियादास कृत टीका में दो परमानंद भक्त कवि हैं। एक कवि श्रीधरस्वामी के गुरू संन्यासी हैं तथा दूसरे अष्टछाप कवि हैं। जिनके विषय में भक्तमाल में कहा है। ''श्री कृष्णचन्द्र के जन्म से पाँच वर्ष तक की बाल लीला तथा दस वर्ष तक की पौगंड़ लीला, ये सब गोप्य चरित्र गान किये।''[24] छप्पय में इन्हें ''सारंग'' छाप कहा गया है। 'परमानंद सारंग' की विशेषताएं 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में अष्टछापी परमानंददास से मिलती हैं। केवल वार्ता में इन्हें सारंग नहीं कहा गया है। दीनदयालु गुप्त के अनुसार, ''परमानंद के आधे से अधिक पद सारंग राग में लिखे हुए हैं।''[25] इस कारण भी इन्हें परमानंद सारंग कह दिया हो, ऐसा माना जाता है।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में एक प्रसंग आता है कि वल्लभाचार्य ब्रज यात्रा करते हुए परमानंददास के गृहगाँव कन्नौज में पधारते हैं। वहाँ वल्लभाचार्य उन्हें भगवद्यश गाने को कहते हैं तब परमानंददास मन में विचार करते हैं कि आचार्यजी का मन तो ब्रज के गोवर्धनधारी के पास है, तो विरह पद गा देता हूँ। विरह का ऐसा पद गाते हैं कि वल्लभाचार्य मूर्छित हो जाते हैं –

'हरि तेरी लीलाकी सुधि आवै।।

कमलनैन मनमोहिनी मूरत मनमन चित्र बनावै।।

एक वार जिय मिलत माया करि सो कैसे बिसरावै।।

मुख मुसिक्यान वंक अविलोकन चाल मनोहर भावै।।

क्बहुक निवड़ तिमर आलिंगन कबहुक पिक सुरगावै।।

क्बहुक सक्षम क्वासि क्वासि कहि संगहीन उठि धावैं।।

क्बहुक नैन मूंदि अंतरगति मणिमालापहरावै।।

परमानंदश्याम ध्यान करि ऐसे बिरह गवावै।।'[26]

परमानंददास ने श्रीनाथ जी के सम्मुख बैठकर पदों की रचना की। जिनमें विरह वर्णन, बाल लीला के साथ–साथ कांता भाव की भी प्रधानता है। परमानंददास गोपी भाव से कृष्ण भक्ति में लीन थे। राघवदास कृत भक्तमाल में भी सारंग शब्द से सम्बोधित किया है। परमानंद की गोपी भाव की भक्ति का चित्रण किया गया है। भक्तमाल में तीन वर्ष की बाल्य अवस्था से ही परमानंद को कृष्ण की गोपी भाव से भक्ति करने का वर्णन मिलता है। इसमें इन्हें किसी गोपी का ही अवतार माना गया है। जो दिन–रात कृष्ण के विरह में अश्रु बहाती रहती है।

गोपी कलि मनु अवतारी, प्रमानंद भयौ प्रेम पर।

बलि अवस्था तीन, गोपी गुण परगट गाये।

नहीं अचम्भा कोई, आदि को सखा सुहाये।

राति दिवस सब रोम उठै, जल बहै द्रिगन तैं।

कृष्ण सोभि तन गलित गिरा, गद–गद सुमगन तै।

संग्या सारंगी कहौ, सुनत कौन आवे सकर।

गोपी कलि मनु अवतरी, प्रमानंद भयो प्रेम पर।।[27]

कुंभनदास

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार कुंभनदास का जन्म क्षत्रिय कुल में जमुनावती गाँव में हुआ। अष्टछाप कवियों की एक विशेषता है कि वह ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव मानव रूप में करते हैं। इनके ईश्वर (श्रीनाथजी) मनुष्य की तरह हँसते, बोलते और वार्तालाप करते हैं। यह इन कवियों की कल्पना मात्र भी कही जा सकती है। ईश्वर से गाय

नहीं चरवा सकते, माखन चोरी नहीं करवा सकते। फिर भी अष्टछाप कवियों के वार्ता साहित्य में जगह–जगह इसका वर्णन मिलता है।

'वार्ता साहित्य' में मलेच्छ आक्रमण का वर्णन मिलता है। एक प्रसंग के अनुसार एक बार एक मलेच्छ का उपद्रव हुआ। मनिकचंदपांडे, सद्दूपांडे, रामदासचौहान, कुंभनदास सब मिलकर विचार करते हैं कि श्रीनाथजी को कैसे बचाया जाए। तत्पश्चात् चारों श्रीनाथजी से ही पूछते हैं, अब क्या करना है ''जो यह मलेक्ष आयौ है सो यह धर्म का द्वेषी है सो कहा कर्तव्य है तब सबने कहा जा यामे कहा कर्तव्य कहा पूछनों अपने बिचारयौ कहा हौत है ताते श्रीनाथजी सो पूछा जो महाराज कहा करें तब श्रीनाथजी ने आज्ञा दीनी जो हमकों यहां ते ले चलो हम यहांते उठेगें तब सबनने पूछो जो महाराज कहां पधारोगे तब अपने श्रीमुख से कह्यौ टोड के घने में चलेगें।''[28] तब एक भैंसे पर बिठाकर श्रीनाथ को वहाँ ले गए। वहाँ घने में काँटे होने के कारण सबके शरीर में काँटे चुभे एवं वस्त्र फट गए। तब श्रीनाथ जी ने कुंभनदास से कुछ गाने के लिए कहा तब कुंभनदास ने कुढ़ कर यह पद गाया–

'भावत है तोय टोड को घनो।।

कांटे लगे गोखरू बूढ़े फटयौ जात यह तनौ।।

सिंहौ कहा लोकटी कोडर यह कहा वानक बन्यौ।।

कुंभनदास प्रभू तुम गोवर्धनपर वह कौन रांडढ़ेडनी को जन्यौ।।'[29]

कुंभनदास जी श्रीनाथजी के प्रति ऐसा प्रेम है कि कुढ़ कर गाए पद में वे उन्हें गाली भी दे देते हैं और वह सुनकर मुस्कुराकर रह जाते हैं। वार्ता साहित्य के एक प्रसंग के अनुसार कुंभनदास को देशाधिपति के बुलावे पर मजबूरीवश कुंभनदास को सीकरी जाना पड़ता है। कुंभनदास उसकी भेजी गई पालकी पर न बैठकर पनहिं पहनकर पैदल ही सीकरी तक जाते हैं। वहाँ पहुँचकर देशाधिपति उन्हें मोती युक्त सिंहासन पर बैठने के लिए कहता है वह मन ही मन दुखी हो जाते हैं। देशाधिपति द्वारा उन्हें पद सुनाने के लिए कहने पर वह यह पद गाते हैं

'भक्तजन को कहा सीकरी सो काम।।

आवत जात पन्हैया टूटी विसर गयौ हरिनाम।।

जाको मुखदेखे दुख लागै ताकोकरनपरीपरनाम।।

कुंभनदासलालगिरधर बिन यह सब झूठौ धाम।।'[30]

कुंभनदास का यह पद सुनकर देशाधिपति का मन बहुत कुढ़ता है और वह कहता है कि इन्हें कोई लालच हो तो मेरा गुण गाये। इन्हें तो अपने परमेश्वर से ही स्नेह है। वार्ता साहित्य के राजा मानसिंह और देशाधिपति के प्रसंग से पता चलता है कि एक साधारण परिवार में जन्में कुंभनदास को किसी भी प्रकार की आसक्ति, माया, मोह एवं लालसा नहीं थी।

कृष्णदास

कृष्णदास बचपन से ही सत्यवक्ता एवं विरक्त थे। ''कृष्णदास अधिकारी का जन्म गुजरात में राजनगर (अहमदाबाद) राज्य के एक चिलोतरा गाँव में हुआ।''[31] वार्ता साहित्य में इन्हें शूद्र कहा गया है। शूद्र होते हुए भी वल्लभाचार्य द्वारा इन्हें अष्टछाप कवियों में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। कृष्णदास के विषय में वार्ता साहित्य से ज्ञात होता है कि यह पुष्टिमार्गीय सिद्धांत को ही महत्व देते थे। एक प्रसंग में कृष्णदास यह कहकर मीरा की उपहार स्वरूप में दी गई भेंट अस्वीकार कर देते हैं ''जो तू श्रीआचार्यजी महाप्रभूनकी सेवकनाहीं होत ताते तेरी भेंट पर हाथते छूवेंगे नाहीं।''[32] कृष्णदास किसी अन्यमार्गी की भेंट स्वीकार नहीं करते थे। साथ ही साथ उन्हें अपने गुरू पर एवं जाति पर भी अभिमान था ''तब एक वैष्णवनें कह्यौ जो तुमने श्रीनाथकी भेंट नाहीं लीनी तब कृष्णदास ने कह्यौ जो भेंटकी कहां है परि मीरांबाई यहां जितने सेवक बैठे हुताके तिन सबनकी नाक नीचे करिकें भेटफेरी है इतने इकठोंरे कहां मिलते यह हूं जानेंगे जो एकवेर शूद्र श्रीआचार्य महाप्रभून कौ सेवक आयौ हुतो ताने भेंट न लीनी तो तिनके गुरूकी कहाबात होयगी।'[33]

वार्ता में एक प्रसंग आता है कि एक बार कृष्णदास श्रीनाथजी के भोग की सामग्री लेने आगरा गए। विद्वानों द्वारा यह बात कही गई है कि कृष्णदास रसिक थे, वे वेश्या

पर मोहित हो गए थे। वार्ता के अनुसार ''सो वह वेश्या बहुत सुंदर और गावै बहुत आछौ नृत्य तेसोइकरे सो कृष्णदास वा के ऊपर रीझै और मन में कहे जो यह तौ श्रीनाथजी के लायकौ ता पाछै वा वेश्याकों दश्मुद्रातों उहांही दीये और कही रात्रि को समाज सहित आइयौ।''[34] इस प्रसंग के कारण कृष्णदास की आलोचना होती है। वस्तुतः स्थिति अन्य भी हो सकती है। वार्ता से ऐसा ज्ञात नहीं होता कि उनका चरित्र दुर्बल था। पुष्टिमार्ग की विशेषता है कि इस सिद्धांत मार्ग के द्वार सबके लिए खुले हैं, ऊँच–नीच का कोई भेदभाव नहीं। यदि कृष्णदास उस वेश्या का मन श्रीनाथ की ओर समर्पित करते हैं तो इससे समाज में एक ऐसा तबका जिसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, को मंदिर के द्वार तक पहुँचा देते हैं। वेश्या जब उनके सामने नृत्य करती है तब कृष्णदास उस वेश्या को कहते हैं ''तो तेरौ गानहू आछौ और नृत्यहू आछौ परिहमारो सेठ है सो तेरे ख्यालटप्पा ऊपर रीझेगो नाहीं ताते हों कहों सो गाइयौं।''[35] कृष्णदास द्वारा रचित पद वेश्या श्रीनाथ के सम्मुख गाती है और अंततः श्रीनाथ के दिव्य स्वरूप में विलीन हो जाती है।

''मोमन गिरधर छबिपर अटक्यौ।।

ललित त्रभंगी अंगन परिचलिगयौ तहांईठटक्यौ।।

सजल श्यामघन चरणनीलह्वै फिरचित अनितनभटक्यौ।।

कृष्णदास कियोप्राणन्यौछावरि यह तन जगसिरपटक्यौ।।[36]

प्रस्तुत प्रसंग से ज्ञात होता है कि कृष्णदास उस वेश्या और श्रीनाथजी के मिलन में एक मध्यस्थ की भूमिका निभाते हैं। श्रीनाथजी से मिलवाकर वह उस वेश्या का उद्धार ही करवाते हैं। राघव दास कृत भक्तमाल की चतुरदास टीका में कृष्णदास के जीवन से संबंधित वर्णन मिलता है।

'दास जु कृष्ण करयौ रसरास सु, प्रेम धरयौं उह नाथ बरयौ है।

होत बजार जलेबि दिली, अरपी प्रभु आपहि भोज करयौ है।

नांचनि को अति राग सुन्यौ यह, नाथ सुनै सुर चित्त धरयौ है।

रीझि गये उन पासि बुलावत, साथि चलावत लाज तरयौ है।।

मंजन अंजन कौ करवाइ, सुबास लगाइ र देवल ल्याये।

देखि हुई मत लेत भई गति, लाल कई लखि मोहि सुहाये।

नाचत गावत भाव दिखावत, नाथ रिझावत नैन लगाये।

होत भई तदकार तज्यौ तन, आप मिलाइ लई सु रिझायै।'[37]

श्री गुसांई जी को कृष्णदास के कारण छः महीने श्रीनाथजी से दूर पारसोली ग्राम में रहना पड़ता है इसका विवरण वार्ता में मिलता है। कृष्णदास अपनी कुशाग्र बुद्धि से मंदिर के बंगाली सेवकों को बाहर कर देते हैं तथा कृष्णदास के विषय में वार्ता साहित्य में एक प्रसंग मिलता है कि अंत समय में माया के प्रति मोहित हो जाते हैं। एक वैष्णव कृष्णदास को 300 मुद्राएँ कुंआ बनवाने के लिए देता है और वो उसे बचा लेते हैं। अंततः उसी कुएँ में फिसल कर उनकी मृत्यु हो जाती है।

मानवीय विकृतियों को उजागर करता कृष्णदास का चरित्र कई जगह सुदृढ़ दिखाई पड़ता है। जहाँ ब्राह्मण का भोजन त्यागकर वह सन्मार्गी शूद्र के यहाँ का भोजन ग्रहण करते है, मीरा की भेंट अस्वीकार कर देते हैं। वहीं विषय विकारों में भी फँसे दिखाई देते हैं। तथापि वह श्रीनाथजी के परम प्रिय सखा रहे तथा अष्टछाप में स्थान प्राप्त करते हैं। कृष्णदास की प्रारंभिक भाषा गुजराती थी तथा कार्य व्यवहार में कुशल होने के कारण उन्हें मंदिर का अधिकारी बनाया गया। हिसाब किताब वह गुजराती भाषा में करते थे। वे ब्रज भाषा के भी अच्छे जानकार थे। इनकी रचनाएँ श्रृंगार प्रधान हैं, जहाँ राधाकृष्ण की युगल छवि का वर्णन है।

नंददास

'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' के अनुसार नंददास सनाढ़य ब्राह्मण थे। वे रामपुर में रहते थे। वार्ता में नंददास को तुलसीदास का छोटा भाई कहा है। ये संस्कृत भाषा के विद्वान थे। ब्रज भाषा का भी इन्हें अच्छा ज्ञान था। प्रारम्भिक अवस्था में इनकी लौकिक विषयों में अधिक रूचि थी। वार्ता में एक प्रसंग आता है कि एक बार नंददास तुलसीदास से प्रार्थना करते हैं कि मैं रघुनाथजी का सेवक हूँ। लेकिन एक बार रणछोड़ जी के दर्शन को जाऊँगा। तुलसीदास समझाते हैं कि तू वहाँ तक नहीं पहुँच पाएगा, मार्ग में बहुत दुख है। तुलसीदास उनकी चित्तवृति से भलीभांति परीचित थे। उन्होंने समझाया लेकिन वे नहीं माने और मार्ग में एक स्त्री पर आसक्त हो गए। उसका मुख देखने दिन में एक बार अवश्य जाते। स्त्री के परिवार वाले दुखी होकर गाँव छोड़ गोसाईं जी के पास गोकुल गए, वहीं नंददास भी पहुँच गए। वहाँ गोसाईंजी से मिलकर उनकी बुद्धि निर्मल हुई और उन्हें विषय विकारों से मुक्ति मिली।

एक अन्य प्रसंग वार्ता में आता है तुलसीदास नंददास को लिवाने मथुरा आते हैं। तुलसीदास को ज्ञात होता है कि नंददास गोसाईंजी के सान्निध्य में आ गए हैं। तो वह समझ जाते हैं कि अब नंददास को उनकी शिक्षा नहीं लगेगी। तब वह एक पत्र वैष्णव के द्वारा नंददास के पास भेजते हैं 'जो– तू पतिव्रत धर्म छोडि व्याभिचार धर्म लियो, सो आछौ नाहीं कियो। अब तू आवे तो फेरि तोको पतिव्रत धर्म बताऊँ।'[38] नंददास पहले रामभक्त थे। जब रणछोड़जी के दर्शन को गए, फिर ब्रज में ही आकर बस गए। एक बार तुलसीदास की ब्रज की शोभा देखकर सोचते है कि अब नंददास वापस रामजी की सेवा में नहीं जाएंगे। फिर भी पत्र लिखते हैं, उनके पत्र का उत्तर नंददास इस प्रकार देते हैं ''जो– मेरौ तो प्रथम रामचंद्रजी सो विवाह भयो हतो। सो बीच में श्रीकृष्ण दौरि आइ के लूटि ले गए। सो रामचंद्रजीमें जो बल होतो तो मोको श्रीकृष्ण कैसे ले जाते? और श्रीरामचंद्रजी तो एक पत्नीव्रत है। सो दूसरी पत्नी को कैसे संभार सकेंगे? एक पत्नी हू बराबरि संभारि न सकें। सो रावण हरि के ले गयो। और श्रीकृष्ण तो अनंत अबलान के स्वामी है, और इनकी पत्नी भये, पाछे कोई प्रकार कौ भय रहे नाहीं है।''[39] नंददास ने श्रीकृष्ण के प्रति समर्पण भाव रखते हुए

उन्होंने तन, मन, धन यह लोक, परलोक श्रीकृष्ण को ही दे दिए हैं। अब मैं इन्हीं के वश में हूँ। तुलसीदास एक बार फिर प्रयत्न करते हैं। नंददास को वापस ले जाने का 'जो– तुम हमारे संग चलो। सो गाम रूचे तो चित्रकूट में रहो, वन रूचे, तो दण्डकारण्य में रहो। ऐसे बड़े–बड़े धाम श्रीरामचंद्रजी ने पवित्र किए हैं।'[40] तब नंददास एक पद की रचना कर तुलसीदास को सुनाते है

'जो गिरी रूचे तो बसो श्रीगोवद्र्धन, गाम रूचे तो बसो नंदगाम।

नगर रूचे तो बसो श्रीमधुरी सोभा सागर अति अभिराम।।

सरिता रूचे तो बसो श्रीयमुनातटे, सकल मनोरम पूरन काम।।

'नंददास' कानन रूचे तो बसो भूमि वृंदावन धाम।।'[41]

जितना प्रेम तुलसीदास का श्रीराम पर है उतना ही नंददास का कृष्ण पर है। यहाँ पर तुलसीदास राम और कृष्ण दोनों को पृथक मान रहे हैं। तुलसीदास केवल श्रीनाथ के आगे ही नमन करते थे। नंददास श्रीनाथजी से प्रार्थना करते हैं–

'कहा कहों छवि आज की, भले बने हो नाथ

तुलसी मस्तक तब नमे, धनुषबान लेहु हाथ।'[42]

वार्ता साहित्य से ज्ञात होता है कि नंददास ने 'श्रीमद्भागवत दशम' भाषा संपूर्ण की। तब मथुरा के सभी पंडितों ने मिलकर गोसाईं जी से प्रार्थना की कि नंददास ने भाषा में श्रीमद्भागवत कही है, अब हमारी कथा कोई नहीं सुनेगा। अब हमारी जीविका कैसे चलेगी? तब गोसाईंजी के कहने पर उन्हें ब्रजलीला तक ही भागवत रखी बाकी यमुना में प्रवाहित कर दी। 'वार्ता' से ज्ञात होता है कि अकबर और बीरबल के सामने ही नंददास ने मानसी गंगा के पास देह छोड़ दी। नंददास आसक्त होकर भी विरक्त जान पड़ते हैं। वे कृष्ण के एकनिष्ठ भक्त थे।

छीतस्वामी

'वार्ता' में छीतस्वामी को मथुरा का चौबे बताया है। उनको सब छीतू कहकर बुलाते। वार्ता में इन्हें पहले कुटिल बुद्धि वाला बताया है। ये और इनके चार मित्र, पाँचों मिलकर स्त्रियों से मसखरी करते थे। 'वार्ता' के एक प्रसंग में यह गोसाईंजी के साथ कुटिल विद्या करने एवं उनकी परीक्षा लेने जाते हैं। थोथे नारियल में खोटा सिक्का लेकर ये गोसाईंजी को भेंट स्वरूप देते हैं। वहाँ जाते ही गोसाईं जी के दर्शन कर उनसे यह भाव छूट जाता है। उस समय छीतस्वामी यह पद गाते हैं–

'भई अब गिरधर सो पहिंचान।

कपटरूप धरि छलिवे आयों, पुरूषोत्तम नहिं जान।

छोटो बड़ो नहिं जान्यों, छाय रह्यो अज्ञान।

छीतस्वामी देखत अपनायो, श्रीविट्ठल कृपानिधान।।'[43]

प्रस्तुत पद से ज्ञात होता है छीतस्वामी पहले से ही कविता करते थे। वल्लभाचार्य के सम्मुख उन्होंने प्रस्तुत पद गाया। छीतस्वामी बीरबल के पुरोहित थे। छीतस्वामी ने बीरबल के समक्ष गोस्वामी विट्ठलनाथ को कृष्ण का अवतार मानकर उनकी प्रशंसा में एक पद गाया–

'जै जै जै श्रीवल्लभराजकुमार।

परमानंददास कपट खंडन करि सकल वेद उद्धार।।

परम पुनीत तपोनिधि पावन तन सोभा जुत सार।

निगम सुकमुख कथित कृष्णलीलामृत सकल जीव निस्तार।।

निजकल सुदृढ़ सुकुत सब कौ फल नवधा भक्तिप्रकार।

दुरत दुरित अचेत प्रेत गति हतित पतित उद्धार।।

नहीं मति नाथ कहां लों बरनों अगनित गुन विस्तार।

छीतस्वामी गिरिधरन श्रीविट्ठल प्रगट कृष्ण अवतार।।'[44]

विट्ठलनाथ को कृष्ण रूप मानकर उनकी प्रशंसा में गाया पद बीरबल को पसंद नहीं आया। छीतस्वामी कृष्ण के साथ साथ गुरूभक्त थे। इस पर अपने विश्वास का अपमान समझकर छीतस्वामी बिना 'बरसोंडी' लिए चले गए। इससे यह ज्ञात होता है इन्हें धन–द्रव्य की कोई लालसा नहीं थी।

गोविंदस्वामी

'वार्ता' में गोविंदस्वामी को सनोढ़िया ब्राह्मण बताया है। ये महावन में रहते थे। इन्हें कविश्वर बताया गया है। जो इनके पद सीख कर गोसाईं जी के आगे गाता उससे गोसाईं जी बहुत प्रसन्न होते। इनकी इच्छा गोसाईं जी से मिलने की हुई। वे एक वैष्णव के साथ गोस्वामी विट्ठलनाथ से मिले। उस समय गोस्वामी विट्ठलाथ कर्मकांड कर रहे थे। तब गोसाईंजी से गोविंदस्वामी कहते हैं, ''जो महाराज! आप तो कपट रूप दिखावत हो और आप के यहां तो साक्षात् प्रभु विराजत है।''[45] तब गोसाईं जी गोविंदस्वामी को बताते है भक्तिमार्ग फलरूपी है और कर्ममार्ग कांटारूपी है ''सो फूल तो रक्षा बिना फूले न रहे। ताते वेदोक्त कर्ममार्ग है सो भक्तिरूपी फूलन को कॉंटेन की बाड़ है। तातें कर्ममार्ग को बाड़ बिना भक्तिरूपी फूल को जतन न होय, तब जन्म बिना फूल हु न रहें।''[46] 'पुष्टिमार्गीय सिद्धांत' भक्ति करने के साथ–साथ कर्म को भी महत्त्व देता है। गोविंदस्वामी श्रीविट्ठलनाथ का यह उत्तर सुनकर संतुष्ट हो जाते हैं।

'वार्ता' से ज्ञात होता है कि गोविंदस्वामी कभी यमुना में स्नान नहीं करते थे। यह पाग भी बहुत अच्छी बाँधते थे। 'वार्ता' में प्रसंग है कि गोविंदस्वामी ने श्रीनाथजी की पाग सवार दी। तब एक भीतरिया ने श्रीगुसाईंजी से कही, ''जो–महाराज! गोविंददास श्रीनाथजी को छूये हैं। (जो) मंदिर के भीतर जाय कै श्रीनाथजी के पाग के पेच संवारे है''[47] उत्तर में

गोसाईंजी कहते हैं, ''यातें उन के छुये तें अपरत छुये जाय नहीं। और वैसे हू ब्राह्मन है, तातें वेद मर्यादा हू में हानि आवत नाहीं।''[48] प्रस्तुत प्रसंग में समाज में व्याप्त ब्राह्मणवादी व्यवस्था का पता चलता है। छूआछूत की भावना तत्कालीन समाज में विद्यमान थी। किन्हीं परिस्थितियों के कारण तत्कालीन समाज में शूद्रों ने मंदिरों में प्रवेश पा लिया था। लेकिन मूर्तियों को स्पर्श करने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को था।

'वार्ता साहित्य' के प्रसंगों में कई बार आया है कि गोविंदस्वामी श्रीनाथजी के प्रिय सखा हैं। उनके साथ हँसते, खेलते और खेल खेल में वापस उन्हें कंकरी भी मार देते। एक बार भैरव राग गाने पर गोविंदस्वामी की किसी मलेच्छ ने प्रशंसा कर दी फिर उन्होंने भैरव राग नहीं गाया 'जो–मलेच्छ ने सराह्यो है, सो राग श्रीगोवर्द्धननाथजी के आगे कैसे गाऊं ? राग तो छी गयो।'[49] इसी प्रसंगवश गोविंदस्वामी साम्प्रदायिक भावना से प्रोत नजर आते हैं।

'भक्तमाल' के एक प्रसंग में कृष्ण के साथ खेल में झगड़ने तथा दूसरे प्रसंग में उनका भोग पहले पाने का विवरण है। सख्य भाव की भक्ति का वर्णन इस प्रकार दिया गया है–

'गोवर्द्धननाथ साथ खेले सदा झेले अंग सख्य भाव हिये गोविंद सुनाय है।

स्वामी करि ख्याल ताकी बात सुनिलीजे नीके सुने सरसात नयन रीति अभिराम है।

खेलत हौ लाल संग गयो उठि दांव लै कै मारी खेच गिली देखि मंदिर में श्याम है।

मानि अपराध सा धूधका दै निकारि दियो मति सो अगाध कैसे जाने वह बाम है।'[50]

'भक्तमाल' में गोविंदस्वामी का इतना ही विवरण है कि वह श्रीनाथ जी के परम सखा हैं, गोवर्द्धननाथ के साथ नित्य खेलते हैं। प्रस्तुत छंद में श्रीनाथजी और गोविंदस्वामी गुल्ली डंडा खेलते हैं। गोविंदस्वामी की बारी आने पर श्रीनाथजी मंदिर में भाग जाते हैं। जिस कारण गोविंदस्वामी श्रीनाथ जी को गुल्ली मारते हैं। ऐसा देखकर गुसाईंजी गोविंदस्वामी को डांट कर मंदिर से बाहर निकाल देते हैं। बाद में गोविंदस्वामी के सखा भाव को देखकर उनके नेत्र सजल हो जाते हैं। राघवदास कृत भक्तमाल की चतुरदास टीका के अंतर्गत भी इसका

वर्णन आता है। एक छंद में गोविंदस्वामी, श्रीनाथजी से पहले ही उनका भोग माँगने की हठ करते हैं। कारण जानने पर वह बताते हैं कि वह (श्रीनाथजी) पहले भोग लगाकर वन में चले जाते हैं। मैं बाद में जाता हूँ तथा वह मुझे वहाँ न पाकर निराश हो जाते हैं। यह सुनकर पुजारी की भी आँखे भीग जाती हैं

'भोग लगावन मंदिर ल्यावत, मांगत है पहिलै मम दीजै।

थारहि डारत जाइ पुकारत, कोप करयौ यह सेवन लीजै।

आइ कही जन कौंन बिचारत, खोलि सुनावंत कोन धरीजै।

जोम रू पैलहि जावत है बन, मोहि न पावत यौं सुनि भीजै।'[51]

'वार्ता' में उनके हँसमुख प्रवृति के होने का पता चलता है। गोविंदस्वामी एक दिन महावन से गोकुल आ रहे होते हैं तो कोई ब्रजवासी उनके माथे से पगड़ी उतार लेता है। तब वह उससे कहते हैं, 'जो–सारे! सेलह टूक हैं, समारि लीजो, हों सकारे तेरे घर आय कै ले जाउंगो।'[52] इनकी पगड़ी सोलह जगहों से फटी हुई थी किंतु वह इस तरह से बाँधते थे कि बंधी हुई सुंदर दिखाई देती। उपरोक्त कथन सुनकर वह ब्रजवासी शर्मिंदा होकर पाग लौटा देता है।

गोविंदस्वामी का गोविंद के प्रति स्नेह उन्हें गोविंददास बना देता है। गोविंददास की बेटी इनके पास थोड़े समय रहने आती है किंतु वे उससे कभी बात नहीं करते। इनकी बहन कानबाई के कहने पर कि वह अपनी पुत्री से बात क्यों नहीं करते। गोविंददास कहते हैं, 'जो कन्हीयां! मन तो एक है। सो ठाकुर जी में लगाउं के बेटी में लगाउं?'[53] गोविंददास श्रीनाथजी के परमसखा थे। अपनी बातों को निसंकोच कहने वाले एवं हँसमुख कृष्णभक्त थे।

चतुर्भुजदास

चतुर्भुजदास कुंभनदास के पुत्र थे। इनका जन्मस्थान ब्रज का जमुनावतो गाँव तथा जाति गोरवा क्षत्री थी। ये परम भागवत्भक्त थे। इस कारण कुंभनदास का इनके प्रति विशेष प्रेम था। चतुर्भुदास बाल अवस्था में ही पद रचना करने लग गए थे।

'सेवक की सुखरासि सदा श्री वल्लभराजकुमार।

दरसन ही तें होत प्रसन्न मन श्रीपुरोषोत्तम लीला अवतार।।

सुदृष्टि चिते सिद्धांत बतायों लीला एक अनुसार।

यह व्यजि आन ज्ञान को धावत भूले कुमति विचार।।

जके कहे गही भुज दृढ़ करि श्रीगिरिधर नंददुलार।

'चतुर्भुज' प्रभु उद्धरे पतित श्रीविट्ठल कृपा उदार।।'[54]

वार्ता से ज्ञात होता है कि अबोधबाल अवस्था से ही चतुर्भुजदास पदों की रचना करने लगे तथा कुंभनदास के साथ भगवत चर्चा करते थे। वार्ता के एक प्रसंग में आता है कि कुंभनदास और चतुर्भुजदास दोनों जमुनावत ग्राम में अपने घर बैठे हुए थे तो अर्द्ध रात्रि में श्रीनाथजी के मंदिर में दीया जलते देखकर कुंभनदास चतुर्भजदास को एक पद सुनाते हैं ''वे देखो बरत झरोखन दीपक हरि पोढ़े उंची चित्रसारी।''[55] इतना पद गाकर कुंभनदास चुप हो जाते हैं तब सुनकर चतुर्भुजदास इस पद को पूरा करते हुए गाते हैं ''सुंदर बदन निहारन कारन राखे है बहुत जतन करि प्यारी।''[56] यह सुनकर कुंभनदास प्रसन्न हो जाते हैं। कुंभनदास रहस्य लीला वार्ता सब चतुर्भुजदास को सुनाते। चतुर्भुजदास ने विरह के पदों की रचना भी की है–

'बात हिलग की कासों कहिए।

सुनरी सखी बिबस्था या तन की समझ मन चुप करि रहिए।

मरमी बिना मरम को जाने यह उपहास जानि जग सहिए।

'चतुर्भुजदास' गिरिरधरन मिले जब तब ही सब सुख लहिए।'[57]

चतुर्भुजदास, कुंभनदास के सात पुत्रों में से सबसे प्रिय पुत्र थे। चतुर्भुजदास के पदों में श्रृंगार वर्णन के साथ–साथ विरह के पद मिलते हैं। यह श्रीनाथजी के अंतरंग सखा हैं।

अष्टछाप कवियों की भक्ति का दार्शनिक आधार

अष्टछाप के सभी कवि वल्लभ संप्रदाय से दीक्षित थे। वल्लभाचार्य ने भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में भ्रमण कर मायावाद का खंडन एवं ब्रह्मवाद और भक्तिवाद का प्रचार किया था लेकिन मूलतः ब्रज को ही उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र बनाया तथा श्रीनाथजी का विशाल मंदिर बनवाकर पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित अपने शिष्यों को कीर्तन सेवा का भार सौंपा था। अष्छाप कवियों ने वल्लभ संप्रदाय की मान्यताओं के आधार पर ही काव्य रचना की। ये सभी स्वभाव से भक्त थे, दार्शनिक नहीं। जिस कारण इन कवियों ने दार्शनिक गुत्थियों में उलझने की चेष्टा नहीं की। श्रीकृष्ण लीलागान ही उनका प्रमुख लक्ष्य था। यत्र–तत्र ब्रह्म, जीव, जगत, मोक्ष की चर्चा इन कवियों ने की है। इनके दार्शनिक सिद्धांत एवं मान्यताएँ इनके गुरू वल्लभाचार्य के समान हैं।

ब्रह्म

अष्टछाप कवियों ने श्रीकृष्ण को ही सर्वस्व मानकर उन्हें ही परब्रह्म की संज्ञा दी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, ''श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं जो दिव्य गुणों से संपन्न होकर 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। आनंद का पूर्ण आविर्भाव इसी पुरुषोत्तम रूप में रहता है, अतः यही श्रेष्ठ रूप पुरुषोत्तम कृष्ण की सब लीलाएँ नित्य हैं। वे अपने भक्तों के लिए 'व्यापी वैकुंठ' में (जो विष्णु के वैकुंठ से ऊपर है) अनेक प्रकार की क्रीडाएँ करते रहते हैं। गोलोक इसी व्यापी वैकुंठ का एक खंड है जिसमें नित्य रूप में यमुना, वृंदावन, निकुंज इत्यादि सब कुछ हैं। भगवान् की इस 'नित्यलीला सृष्टि' में प्रवेश करना ही जीव की सबसे उत्तम गति है।''[58] श्रीकृष्ण संबंधी अष्टछाप कवियों की मान्यताओं का वर्णन शुक्ल जी ने अत्यंत सरल शब्दों में,

अद्‌भुत वर्णन किया है। अष्टछाप कवियों ने श्रीकृष्ण को आदि, अनादि, अनुपम, अखंडित और रस रूप माना है। 'मायारानी टंडन' अष्टछाप कवियों की ब्रह्म संबंधी मान्यताओं का वर्णन इस प्रकार करती हैं ''वेद, उपनिषद् आदि में जिस ब्रह्म को 'निर्गुण और मन–बानी से अगम–अगोचर' कहा गया है अथवा जिसके संबंध में 'नेति' कहकर बुद्धि या समझ की परिमिति स्वीकार की गई है, वही भक्तों के वश होकर, उनकी इच्छा की पूर्ति के लिए या रक्षा करने के उद्‌देश्य से सगुण रूप में अवतार लेता है।''[59]

जीव

अष्टछाप कवियों ने 'जीव' की उत्पत्ति ईश्वर के अंश से और उसी की इच्छा से मानी है। ''कृष्णदास, कुंभनदास तथा गोविंदस्वामी ने जीव के स्वरूप, उत्पत्ति तथा ब्रह्म के साथ उसकी उत्पत्ति का कोई दार्शनिक विचार अपनी रचनाओं में प्रकट नहीं किये हैं। चतुर्भुजदास और छीतस्वामी ने ईश्वर और जीव की अद्वैतता स्वीकार की है। छीतस्वामी के अनुसार जीव कृष्ण रूप ही है।''[60] अष्टछाप कवियों के अनुसार अंश कभी पूर्ण के बराबर नहीं हो सकता। जीव, ब्रह्म का अंश है। ''परब्रह्म का अंश होते हुए भी 'जीव' एक बात में उससे भिन्न है। वह यह कि जहाँ जीव काल, कर्म और माया के अधीन होने के साथ विधि निषेध और परब्रह्म इन सबसे परे रहता है।''[61] जीव सांसारिक मोह–माया के बंधनों में जकड़ा हुआ है, किंतु ब्रह्म इन सब बातों से परे है।

जगत

अष्टछाप कवियों ने 'जगत' को परब्रह्म द्वारा उसी से उत्पन्न होकर उसी में वैसे ही समा जाना मानते हैं, जैसे पानी से बना हुआ बुलबुला फिर उसी में विलीन हो जाता है। परमानंददास दृश्यमान जगत को कृष्ण रूप ही मानते हैं। ''परमानंददास उस दिव्य देश में जाने को कहते हैं, जहाँ सांसारिक क्लेशों का अभाव है। वही जाकर जीव के अविद्या जनित क्लेश और पाप ताप नष्ट हो जाते हैं–

जाइए वह देय जहां नंदनंदन भेटिये।

निरखिये मुख कमल कांति, विरह ताप मेटिये।।''[62]

माया

अष्टछाप कवियों ने माया के दो रूपों का वर्णन किया है। एक है विद्या माया और दूसरी अविद्या माया। ''माया का द्वितीय रूप का कार्य जीव को संसार और सांसारिकता से जकड़े रहने का रहता है तथा प्रथम अर्थात् विद्या–माया, परब्रह्म की इच्छानुसार, सृष्टि की रचना अथवा उनका नाश करने के साथ–साथ ईश प्रेरणा से जीव को अविद्या–माया के बंधन से मुक्त भी करती है।''[63] अष्टछाप कवियों ने अविद्या माया का वर्णन विस्तार से तथा विद्या माया का वर्णन संक्षेप में किया है।

मुक्ति

सांसारिक कष्टों से मुक्ति पाना मोक्ष का एक रूप है। अष्टछापी कवियों ने ज्ञानमार्गी मुक्ति की अपेक्षा प्रेममार्गी भक्ति को अधिक महत्व दिया है। ये कवि मानते हैं कि जब भगवद् भजन से सब प्राप्त किया जा सकता है तो जीव व्रत, नियम, उपवास आदि द्वारा स्वयं को कष्ट क्यों देता है?

अष्टछाप कवि कहते हैं कि कृष्ण नाम सर्वशक्तिमान है। जिसके द्वेष भाव से भी स्मरण होने पर जीव मुक्ति को प्राप्त करता है। नंददास कहते हैं–

'महाद्वेष कर महाशुद्ध शिशुपाल भयौ जब।

मुकुत होत वह दुष्टजनौ कछु संग न गयौ तब।।'[64]

अष्टछाप कवियों ने ईश्वर के दर्शन, भजन, कीर्तन, सेवा को परम सुख माना है। जिसको भगवद् सेवा में सुख मिलता है उसके लिए फिर सारे सुख तृणवत् हो जाते है।

4.4 उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि

छठी शताब्दी में जिन परिस्थितियों के कारण दक्षिण प्रदेश में आल्वारों का भक्ति आंदोलन घटित हुआ, ठीक वैसी ही परिस्थितियाँ चौदहवीं–पंद्रहवीं शताब्दी में हिंदी प्रदेश में मौजूद थी। कहा जाता है कि इतिहास की पुनरावृत्ति होती है। वास्तव में यह भक्ति आंदोलन इतिहास की पुनरावृत्ति ही था।

4.4.1 उत्तर भारत की राजनीतिक परिस्थितियाँ

भक्ति आंदोलन की शुरुआत एकदम से नहीं हो गई थी इसके पीछे राजनैतिक परिस्थितियाँ काफी हद तक जिम्मेदार थी। भारत में समय समय पर विदेशी आक्रमण होते रहे। जिसमें कासिम ने अपने रण कौशल द्वारा राजा दाहिर को 712 ई० में परास्त कर सिंध को अरब सत्ता के अधीन कर लिया। इसके तीन सौ वर्षों बाद ग्यारहवीं शताब्दी में महमूद गजनबी ने भारत पर अनेक आक्रमण किए। इसके दो सौ वर्षों बाद शहाबुद्दीन गौरी ने भारत पर अनेक आक्रमण किए। शहाबुद्दीन गौरी ने सत्रह बार पृथ्वीराज चौहान से परास्त होकर अंततः 1192 ई० में तराईन के युद्ध में उसे परास्त किया। शहाबुद्दीन गौरी के सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक ने भारत में मुस्लिम शासन की स्थायी नींव 1206 ई० में डाली थी। तुर्क मुसलमानों द्वारा उत्तरी भारत पर आक्रमण तेरहवीं शताब्दी की एक ऐतिहासिक घटना है। तुर्कों की विजय के परिणामस्वरूप विदेशी साम्राज्य का भारत में विस्तार हुआ।

तेरहवीं–पंद्रहवीं शताब्दी तक मुसलमान भारत में बस गये थे, मुसलमान आक्रमणकारी अब दिल्ली के शासक बन चुके थे। भारत में इससे पहले भी शक, हूण, यवन, आभीर, कुषाण आदि विदेशी जातियाँ आई और वे भारत की चिर पुरातन वर्णाश्रम व्यवस्था में खप गई। इस दासत्त्व की अवस्था तक पहुँचने में तत्कालीन हिंदू राजाओं की तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए इतिहासकार 'इब्ने हसन' कहते हैं, ''राजपूत राजकुमारों की चक्रवर्ती कहलाने की आकांक्षाओं और उससे उत्पन्न आपसी प्रतिद्वंदिता और युद्ध ने उनकी शक्तियों को विभाजित कर दिया और राज्यकर्ता शासकों के लिए सामान्य संगठित कार्यवाही का कोई अवसर शेष न रहा। जाति की कठोरता ने समाज को और भी छोटे–छोटे समूहों में बांट दिया। इससे उदासीनता की भावना पैदा हुई और

सामान्य हित का कोई क्षेत्र न बचा। इससे जनता की लड़ने की शक्ति का ह्रास हुआ और अंत में राष्ट्रीय भावना पर कुठाराघात हुआ। अंततः संकुचित अदूरदर्शी और शेष विश्व से कटा हुआ हिंदू राज्य समय के साथ न चल सका और निरंतर होनेवाले बाहरी हमलों के विरूद्ध साधन जुटाने में असफल रहा। अखिरकार 13वीं सदी में वह एक झंझावत में फंसकर ध्वस्त हो गया जिसे वह झेल पाने में असमर्थ था।''[65] राजनीतिक दृष्टि से यह काल संघर्ष का काल रहा। उत्तरी भारत की राजकीय सत्ता का मुख्य केंद्र दिल्ली रहा था। दिल्ली पर शासन करने वाला उत्तरी भारत का मुख्य शासक समझा जाता था। इस काल के पूर्वार्द्ध में दिल्ली में तुगलक वंश और लोदी वंश के शासकों का युग रहा और तत्पश्चात् बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ का शासनकाल रहा।

अकबर के काल की राज व्यवस्था का वर्णन करते हुए इरफान हबीब कहते हैं, ''अकबर के काल में एक समन्वित राज व्यवस्था के विकास के साथ वर्गीय हितों का एकीकरण भी हुआ। हाँलाकि उस समय आधुनिक अर्थ में 'राष्ट्र' की कोई धारणा संभव नहीं थी, फिर भी मुगल साम्राज्य में राजपूत रजवाडों का एकीकरण भारत की भौगोलिक धारणा को एक राजनीतिक इकाई का रूप देने की प्रक्रिया में निश्चित ही एक अग्रगामी कदम था।''[66]

बहलोल लोदी से लेकर अकबर तक मुसलमान शासकों के सन् (1451ई०–1605ई०) मध्यकालीन शासन के दौरान देश की राजनैतिक स्थिति अस्थिर रही थी। इसी काल के दौरान ई० सन् 1468 से 1585 तक अष्छाप कवियों का समय पड़ता है। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में अपेक्षाकृत राजनीतिक शांति थी। राजनीतिक दृष्टि से यह काल युद्ध, विद्रोह तथा संघर्ष का काल रहा है। यद्यपि शासकों ने प्रजा के लिए कल्याणकारी कार्य भी किए, शासन में सुधार, कर–नीति में परिवर्तन किए, परंतु इन शासकों का अधिकांश समय अपनी राज्य सत्ता का विस्तार करने, आंतरिक विद्रोह को दबाने तथा बाहरी संघर्षों से निपटने में बीता।

4.4.2 उत्तर भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ

इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब भी कोई विचार आंदोलन का रूप लेता है, तब उसे व्यापकता समाज ही प्रदान करता है। भक्ति आंदोलन के समय समाज और आम जनता का एक साथ आंदोलन में जुड़ जाना इस बात को प्रमाणित करता है क्योंकि उस समय की सामाजिक स्थिति ऐसी बन गई थी कि प्रतिरोध किए बिना समाधान मिलने की कोई गुंजाइश नहीं थी। देश की राजनैतिक स्थितियों का सामाजिक स्थिति पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

मुगलकाल में स्त्रियों की दशा अधिक सोचनीय थी। उसे मात्र भोग्या समझा जाता था। समाज में अनेक प्रकार की रूढ़ियाँ व्याप्त थी जिनका सामना हिंदू और मुस्लिम दोनों धर्म की स्त्रियों को करना पड़ता था। मुसलमान शासकों के हरम में अनेक स्त्रियाँ दासी बनकर रहती थीं। हिंदू समाज में स्त्रियों के अधिकार सीमित थे। वे जन्म से लेकर मृत्यु तक पुरुष के संरक्षण में रहती थी। पुरुष प्रधान समाज में केवल पुरुषों को ही महत्व दिया जाता था। हिंदू हो या मुसलमान पुत्र जन्म हर्षोल्लास का कारण माना जाता था। समाज में पुत्रियों का जन्म विशेष प्रसन्नता की बात नहीं थी। डॉ. राजेन्द्र पाण्डेय अपनी पुस्तक 'भारत का सांस्कृतिक इतिहास' में कहते हैं, ''मंदिरों में स्त्रियाँ देवदासियों के रूप में रखी जाती थी, जो नृत्य या संगीत में भाग लेती थी। हिंदू धर्मशास्त्रों में बहुविवाह अच्छा नहीं कहा गया है सामान्यतः राजा और उच्च वर्ग के लोग ही बहुविवाह करते थे। मुसलमानों के भय एवं अत्याचार के कारण बाल्यावस्था में विवाह कर देने के लिए स्मृतिकारों ने नये नियम बनाये। कन्या का विवाह सात वर्ष की आयु से बारह वर्ष की आयु के बीच कर दिये जाने लगे थे।''[67] मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति भी विशेष ठीक नहीं थी। फिर भी हिंदू स्त्रियों की अपेक्षा उनकी स्थिति ठीक थी। ''मुस्लिम स्त्रियों को पैतृक संपत्ति में अधिक अधिकार प्राप्त था। वे विशेष परिस्थिति में पति को तलाक भी दे सकती थीं। साधारणतया पारिवारिक जीवन शांतिमय था और पति–पत्नी में सद्भावना, प्रेम और सम्मान रहता था।''[68] सती प्रथा का उन दिनों विशेष प्रचलन था। हिंदू स्त्रियों विशेषकर राजपूत राजा इस प्रथा का पालन करते थे। किसी राजा की मृत्यु होने पर उसकी रानियाँ अपनी इच्छा से या समाज के डर से सती हो जाती थी। मुस्लिम स्त्रियाँ इस प्रथा से मुक्त थीं। रोमिला थापर पुस्तक 'भारत का इतिहास' में कहती हैं, ''शरीअत के अनुसार आत्महत्या गैर–कानूनी है और सती होना आत्महत्या का कार्य था, परंतु

हिंदू स्त्रियों को इसकी अनुमति दे दी गई।''[69] इस दुर्भाग्यपूर्ण कुरीति का वर्णन करते हुए इतिहासकार सतीशचंद्र कहते हैं, ''मृत राजा को उसके साथ सती होनेवाली स्त्रियों से जो सत् प्राप्त होने की कल्पना थी उसमें वृद्धि करने के लिए रानियों के साथ दासियों, पासवान् इत्यादि को जो राजा के साथ सहवास कर चुकी थीं और जो देशाचार के अनुसार उसकी एक प्रकार की पत्नियां मानी जाती थीं और जिन्हें इसके फलस्वरूप विशेष सुविधाएं प्रदान की जाती थीं, राजा के साथ सती होने पर मजबूर किया जाता था।''[70] कामुक दृष्टि से बचने के लिए पर्दा प्रथा का जन्म हुआ। हिंदू स्त्रियाँ पर्दा प्रथा का पालन करने लगी। मुस्लिम स्त्रियों को घर के एक पृथक भाग में रखा जाता था जिसे जनाना कहते थे। उन्हें बाहर बिना परदे के निकलने की अनुमति नहीं थी। पर्दा प्रथा उदय के कारण स्त्रियों के जीवन में आए खोखलेपन का वर्णन करते हुए रोमिला थापर कहती हैं, ''हिंदू और मुस्लिम कुलीन वर्ग ने अपनी स्त्रियों को जीवन के अप्रिय एवं बहुधा आदिम रूप से बचाए रखने का जो प्रयत्न किया उसके कारण उनकी स्त्रियों में एक अजीब अकेलापन और खोखलापन आ गया। ऐसी स्थिति में समय काटने के लिए वे अपना समय या तो गुप्त प्रेम संबंधों अथवा राजनीतिक कुचक्रों में लगाती थीं। कृषक एवं शिल्पी वर्ग की नारियों को अपने समाज के अंदर अपेक्षाकृत अधिक स्वाधीनता प्राप्त थी, और निःसंदेह इसका कारण आर्थिक आवश्यकता थी।''[71] उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग की स्त्रियों में अंतर था। किंतु पिता, पति एवं पुत्र पर निर्भरता सभी स्त्रियों पर समान रूप से लागू थी। उच्च वर्ग की स्त्रियाँ शिक्षित होती थीं और ऐशोआराम से रहती थीं किंतु उनकी दुनिया हरमों तक सीमित थी। उनके पतियों की अनेक पत्नियां एवं रखैलें होती थीं।

हिंदू और मुसलमान दोनों समुदायों के गरीब किसान और कारीगर एक ही वर्ग के थे। शूद्रों की स्थिति के विषय में रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं, ''शास्त्रों का अत्याचार केवल इतना नहीं था कि उन्होंने खाने–पीने, चलने–फिरने, मिलने–जुलने और आने–जाने पर इतने अधिक प्रतिबंध लगा दिए थे, कि उनके अनुसार, आदमी की जात, बात की बात में चली जाती थी; उनका सबसे बड़ा अत्याचार, कदाचित यह था कि जाति भ्रष्ट व्यक्ति को फिर से जाति में मिलाने का कोई उपाय नहीं निकाला था।''[72] शूद्रों की स्थिति

अत्यंत दयनीय थी। उच्चवर्णों द्वारा उन पर पशुवत् व्यवहार किया जा रहा था। इस घुटन भरे जीवन से मुक्त होने के लिए भारी संख्या में धर्म परिवर्तन हो रहा था। इतिहासकार रोमिला थापर भी 'भारत का इतिहास' पुस्तक में स्पष्ट करती हैं कि ''प्रारंभ में जिन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार किया, वे छोटी जाति के हिंदू थे। उन्होंने इस विश्वास के साथ हिंदू समाज का परित्याग कर, इस्लाम धर्म ग्रहण किया था कि छोटी जाति के हिंदू रहने की अपेक्षा मुसलमान होकर अधिक अवसर प्राप्त कर सकेंगे।''[73] तत्कालीन स्त्रियों, कृषकों एवं शूद्रों की स्थिति देखकर कहा जा सकता है कि उत्तर भारत की सामाजिक व्यवस्था अत्यंत दयनीय थी।

4.4.3 उत्तर भारत की आर्थिक स्थिति

देश की आर्थिक स्थिति का मुख्य आधार कृषि, पशुपालन तथा हस्तकलाएं थी। जीवन–यापन की वस्तुएं तो बहुत सस्ती थी परंतु लोगों की क्रय शक्ति इतनी भी नहीं थी। हिंदी भाषी प्रदेश दरिद्रता की गोद में पल रहा था। तथाकथित शूद्र जातियाँ इस अभिशाप से मुक्ति पाने के लिए धर्मपरिवर्तन कर रही थीं। उत्तरी भारत बुरी तरह आर्थिक विषमता का सामना कर रहा था। जगमगाते राजकोषों तथा विलासमय दरबारों से साधारण जनता की आर्थिक स्थिति अत्यंत खराब हो गई थी। विदेशी व्यापार को जो प्रोत्साहन सुल्तान दे रहे थे, वह केवल अपनी विलासिता की पूर्ति करने के लिए था।

विद्वानों के अनुसार अकबर के शासनकाल में आर्थिक स्थिति अच्छी मानी गई 'अकबर के शासनकाल में साम्राज्य उन्नति के शिखर पर था क्योंकि राज्य की नीति इसके अनुकूल थी। राज्य हस्तशिल्प उत्पादन के विकास और उनके व्यापार को प्रोत्साहित करता था। कारीगरों और व्यापारियों को करों में छूट देता था। अन्य सामंत स्वामियों से अत्याचारों से उनकी रक्षा का प्रयत्न करता था।'[74] उत्तर भारत की आर्थिक दशा खराब थी। सामंतवादी व्यवस्था होने के कारण मजदूर वर्ग और कृषक वर्ग का जीवन दयनीय हो गया था।

4.4.4 उत्तर भारत की धार्मिक स्थिति

उत्तरी भारत में भक्ति भावना का प्रसार पंद्रहवीं शताब्दी से आरम्भ होता है। जब तुर्क शासन सुदृढ़ हो चुका था तथा सूफियों ने इस्लाम के लिए एक अनुकूल पृष्ठभूमि तैयार कर ली थी। मंदिरों के विनाश एवं मूर्ति भंजक के रूप का इतिहास बहुत समय पहले की बात है। सूफियों द्वारा इस्लाम के शांतिपूर्ण प्रसार और हिंदू समाज के बारे में रोमिला थापर पुस्तक 'भारत का इतिहास' में कहती हैं, ''भारत में इस्लाम के आगमन से पूर्व गुरूओं और सन्यासियों की जो परंपरा थी, उसने उनके मुस्लिम समकक्ष पीरों और शेखों को स्वीकार करने के लिए भूमि तैयार कर दी थी। वे एकांत में रहते थे ओर ऐसा विश्वास किया जाता था कि उन्हें अथाह धार्मिक सिद्धियाँ प्राप्त है। इसलिए उन्हें निश्चित रूप से जनता का समर्थन प्राप्त था, वे जब चाहें उसे इस्तेमाल करते थे और सरकार उनकी इस शक्ति से अनभिज्ञ नहीं थी।''[75] पीरों और शेखों की परंपरा में आगे चलकर सूफी मत का आगमन हुआ। जिसमें भारतीय अद्वैतवाद और इस्लाम के एकेश्वरवाद का समन्वय था। ऐसा माना जाता है कि सूफी कहलाने वाले रहस्वादियों का उदय इस्लाम के प्रारंभिक काल में हो चुका था। प्रो. सतीश चंद्र कहते हैं, ''10वीं सदी तक इस्लामी जगत में सूफीवाद दूर–दूर तक फैल चुका था। 10वीं और 12वीं सदियों के बीच दार्शनिक विचार, विश्वास एवं व्यवहार जैसे सांस रोकना, अथवा तपस्या एवं उपवास करना, विभिन्न पंथों अथवा सिलसिलों का उदय, एवं कई सूफियों द्वारा स्थापित ख़ानकाहों अथवा धर्मशालाओं का गठन आदि परम्पराएं मज़बूती से जड़ पकड़ चुके थे।''[76] सूफियों को हिंदू एवं मुस्लिम दोनों धर्मों द्वारा आदर की दृष्टि से देखा जाता था। सूफी अधिकांश गहन भक्ति करने वाले संत थे जो इस्लामी साम्राज्य की स्थापना के बाद नैतिकता के पतन तथा धन के अभद्र प्रदर्शन से चिढ़ गए थे। सूफियों की प्रेमप्रधान विचारधारा ने हिंदू–मुस्लिम धर्मों में समन्वय स्थापित करने में पर्याप्त योगदान दिया, किंतु सूफीयों के प्रभाव से चमत्कारों को प्रोत्साहन मिला साथ ही विज्ञान एवं वैज्ञानिकों पर संदेह बढ़ा। सूफी विचारधारा के नकारात्मक पक्षों को इंगित करते हुए प्रो. सतीशचंद्र कहते हैं, ''संत के प्रति अत्यधिक श्रद्धा की परंपरा ने अनेक भक्तों को मूर्तिपूजा की हद तक ला खड़ा किया। विशेषकर किसी संत के देहांत के बाद उसकी दरगाह लगभग पूजा–स्थल अथवा पूजा की

वस्तु बन जाती थी। संत की इच्छाओं का निर्विवाद पालन कभी–कभी चापलूसी का वातावरण पैदा कर देता था। इसी लिए कुछ भ्रमणशील संत अथवा कलंदर ख़ानकाहों के सख्त विरोधी थे।''[77] इसमें कोई संदेह नहीं है कि भक्ति आंदोलन में एकेश्वरवाद एवं समानता आदि के सिद्धांत इस्लाम के प्रभाव का स्पष्ट उदाहरण हैं। इसी के समांतर निर्गुण भक्ति की भावना का प्रसार हुआ जिसे कबीर, दादू, नानक आदि संतो ने प्रचारित किया। इन संतों ने लोगों को भक्ति का संदेश दिया। इन्होंने ग्रंथ आधारित धर्म, मूर्तिपूजा एवं जाति व्यवस्था का घोर विरोध किया। पंद्रहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य की शिष्य परंपरा में रामानंद हुए जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की भक्ति के द्वार सबके लिए खोल दिए।

सूफियों की साधना पूर्णतया प्रेममार्गी थी और वहाँ भी विरह गीतों द्वारा उस अदृश्य अलौकिक ब्रह्म को प्राप्त करने की चेष्टा उसी प्रकार की जा रही थी जैसी चेष्टा वैष्णव आचार्यों ने की थी। अंतर केवल इतना था कि वहाँ निराकार ब्रह्म के प्रति चेष्टा की जाती थी जबकि वैष्णव सम्प्रदाय ने निर्गुण की अपेक्षा सगुण ब्रह्म को महत्व दिया।

4.4.5 उत्तर भारत की कलागत एवं साहित्यिक परिस्थितियाँ

यह काल सांस्कृतिक दृष्टि से एक समन्वित विकास का काल था। कई जातियों के आगमन से भारतीय संस्कृति पर उन जातियों का प्रभाव पड़ा एवं एक मिली जुली संस्कृति का विकास हुआ। इस्लाम के आने से एक बार फिर सांस्कृतिक परिवर्तन हुआ। रोमिला थापर कहतीं हैं, ''इस्लामी संस्कृति का तत्कालीन भारतीय संस्कृति में जो सम्मिश्रण हुआ उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति नगरों के शिल्पियों तथा कृषकों की गतिविधियों में हुई, जैसा कि उस समय के सामाजिक–धार्मिक विचारों एवं आधारभूत शिल्प–कार्यों जैसे स्मारकों के निर्माण से ज्ञात होता है। इस युग की वास्तुकला में भी यह मिश्रण स्पष्ट है इन दोनों श्रेणियों में रहन–सहन का ढ़र्रा उच्च वर्ग की अपेक्षा कहीं अधिक ऊंचा था। घरेलू समारोह तथा जन्म, विवाह एवं मृत्यु से संबंधित अनुष्ठान एक–दूसरे से घुलमिल गए थे। इस्लाम धर्म अपनाने वाले

हिंदू भी हिंदुओं में प्रचलित प्राचीन अनुष्ठानों को धर्म परिवर्तन के बावजूद मानते रहे। इस्लाम धर्म के कुछ शुभ माने जाने वाले धर्मानुष्ठान हिंदुओं के अनुष्ठानों में प्रवेश कर गए।'[78]

सांस्कृतिक क्षेत्र में, क्षेत्रीय भाषाओं, संगीत, नृत्य, चित्रकला, शिल्पकला इत्यादि के विकास में भक्ति आंदोलन का विशेष योगदान रहा।

निष्कर्षतः छठी शताब्दी में जिन परिस्थितियों के कारण तमिल प्रदेश में आल्वार संतों का भक्ति आंदोलन घटित हुआ, ठीक वैसी ही परिस्थितियाँ तेरहवीं–चौदहवीं शताब्दी में हिंदी प्रदेश में मौजूद थी। परंतु उत्तर भारत की स्थिति विदेशी आक्रमण के कारण अधिक गम्भीर थी। बाकी सारी परिस्थितियाँ उसी प्रकार वर्तमान थी जिस प्रकार उसके सात–आठ सौ वर्ष पहले दक्षिण में मौजूद थी। भक्ति आंदोलन तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया थी।

संदर्भ सूची

1. डॉ. नगेन्द्र; हिंदी साहित्य का इतिहास, सं. 1973, अठाईसवां सं. 2001, मयूर पेपरबैक्स, ए–15, सेक्टर–5, नोएड़ा–201301, पृ.–200.
2. वही, पृ.–201
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल (भूमिकाः रामकिशोर शर्मा); त्रिवेणी, लोकभारती प्रकाशन, 15 ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पृ.–52.
4. सं. रामचंद्र शुक्ल; भ्रमरगीतसार, कला मंदिर, 1687, नई सड़क, दिल्ली–110006, पृ.–109.
5. डॉ. बच्चन सिंह; हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, पहला सं. 1996, चौथी आवृति 2012, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली–2, पृ.–79.
6. रामविलास शर्मा; परंपरा का मूल्यांकन, दूसरा सं. 2011, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ.–50.
7. आचार्य रामचंद्र शुक्ल; हिंदी साहित्य का इतिहास, सं. 2010, अशोक प्रकाशन, 2615, नई सड़क, दिल्ली–110006, पृ.–92.
8. गणपतिचंद्र गुप्त; साहित्यिक निबंध, बाईसवां सं. 2011, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पृ.–319.
9. डॉ. आर. सुमन लता; अष्टछाप तथा ताल्लपाक कवियों का तुलनात्मक कवियों का तुलनात्मक अध्ययन, सं. 1989, दक्षिणांचलीय साहित्य समिति, 405/7/1, गाँधी नगर, हैदराबाद–500380, पृ.–84.
10. विजयेन्द्र स्नातक; श्री वल्लभाचार्य, सं. 1992, तीसरी आवृति 2012, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नेहरू भवन, 5–इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज–2, बसंत कुंज, नई दिल्ली–110070, पृ.–44.
11. डॉ. हरगुलाल; अष्टदाप के कवि कुंभनदास, सं. 2008, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्पलेक्स, लोधी रोड़, नई दिल्ली–110003, पृ.–20.
12. विश्वनाथ त्रिपाठी; हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, प्रथम सं. 1986, ग्यारहवां सं. 2001, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली–110016, पृ.–37.
13. डॉ. दीनदयालु गुप्त; अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (प्रथम भाग) सं. 1999, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 12, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद–211003, पृ.–120.
14. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, मुद्रक व प्रकाशनः मे. खेमराज–श्रीकृष्णदास, सं. 1986, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई–4, पृ.–250.

15. वही, पृ.—250.
16. प्रियादास कृत श्री भक्तमाल टीका— कवित्त (भक्तिसुधावाद तिलक सहित), सीतारामशरण भगवान प्रसाद रूपकला द्वारा प्रणीत, पृ.—557.
17. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, मुद्रक व प्रकाशनः मे. खेमराज—श्रीकृष्णदास, सं. 1986, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई—4, पृ.—255.
18. वही, पृ.—255.
19. वही, पृ.—256.
20. वही, पृ.—263.
21. वही, पृ.—272.
22. वही, पृ.—274.
23. वही, पृ.—275.
24. प्रियादास कृत श्री भक्तमाल टीका— कवित्त (भक्तिसुधावाद तिलक सहित), सीतारामशरण भगवान प्रसाद रूपकला द्वारा प्रणीत, पृ.—559.
25. डॉ. दीनदयालु गुप्त; अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (प्रथम भाग) सं. 1999, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 12, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद—211003, पृ.—114.
26. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, मुद्रक व प्रकाशनः मे. खेमराज—श्रीकृष्णदास, सं. 1986, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई—4, पृ.—278.
27. राघवदास कृत भक्तमाल (चतुरदास कृत टीका सहित), सं. 1965, प्रकाशक—राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, राजस्थान, पृ.—133.
28. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, मुद्रक व प्रकाशनः मे. खेमराज—श्रीकृष्णदास, सं. 1986, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई—4, पृ.—291.
29. वही, पृ.—292.
30. वही, पृ.—295.
31. डॉ. दीनदयालु गुप्त; अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (प्रथम भाग) सं. 1999, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 12, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद—211003, पृ.—245.
32. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, मुद्रक व प्रकाशनः मे. खेमराज—श्रीकृष्णदास, सं. 1986, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई—4, पृ.—313.
33. वही, पृ.—314.
34. वही, पृ.—323.
35. वही, पृ.—323.
36. वही, पृ.—324.
37. राघवदास कृत भक्तमाल (चतुरदास कृत टीका सहित), सं. 1965, प्रकाशक—राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, राजस्थान, पृ. 97—98.

38. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (तीन जनम की लीला भावना सहित), खण्ड 1—खण्ड 3, सं. द्वारकादास पारिख, पूजा प्रकाशन, अहमदाबाद, पृ.—232.
39. वही, पृ.—233.
40. वही, पृ.—234.
41. वही, पृ.—234.
42. वही, पृ.—235.
43. वही, पृ.—247.
44. वही, पृ. 251—252.
45. वही, पृ.—264.
46. वही, पृ.—264.
47. वही, पृ.—269.
48. वही, पृ.—269.
49. वही, पृ.—276.
50. श्रीनाभादास कृत भक्तमाल, सं. 1957, मुद्रितः श्रीवेंकटेश्वर छापाखाना, मुम्बई, पृ. —203
51. राघवदास कृत भक्तमाल (चतुरदास कृत टीका सहित), सं. 1965, प्रकाशक—राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, राजस्थान, पृ.—163.
52. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (तीन जनम की लीला भावना सहित), खण्ड 1—खण्ड 3, सं. द्वारकादास पारिख, पूजा प्रकाशन, अहमदाबाद, पृ.—277.
53. वही, पृ.—278.
54. वही, पृ.—287.
55. वही, पृ.—290.
56. वही, पृ.—290.
57. वही, पृ.—300.
58. आचार्य रामचंद्र शुक्ल; हिंदी साहित्य का इतिहास, सं. 2010, अशोक प्रकाशन, 2615, नई सड़क, दिल्ली—6, पृ.—91.
59. डॉ. मायारानी टंड़न; अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन, सं. 1960, विद्यामंदिर प्रेस, लखनऊ, पृ.—561.
60. डॉ. शेर सिंह बिष्ट; वैष्णव धर्म सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धांत और कृष्ण भक्ति काव्य और कृष्ण भक्ति काव्य, सं. 1990, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, पृ.—213.
61. डॉ. मायारानी टंड़न; अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन, सं. 1960, विद्यामंदिर प्रेस, लखनऊ, पृ.—568.

62. डॉ. शेर सिंह बिष्ट; वैष्णव धर्म सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धांत और कृष्ण भक्ति काव्य और कृष्ण भक्ति काव्य, सं. 1990, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, पृ.–214.
63. डॉ. मायारानी टंड़न; अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन, सं. 1960, विद्यामंदिर प्रेस, लखनऊ, पृ.–568.
64. डॉ. शेर सिंह बिष्ट; वैष्णव धर्म सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धांत और कृष्ण भक्ति काव्य और कृष्ण भक्ति काव्य, सं. 1990, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, पृ.–214.
65. इब्ने हसन; मुगल साम्राज्य का केंद्रीय ढांचा, अनुवादकः कृपालचंद यादव, सं. –1997, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, जी–82, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092, पृ. 30–31
66. इरफान हबीब; मध्यकालीन भारत, अनुवादक नरेश नदीम, अंक–6 पहला सं. 1999, दूसरी आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 25.
67. डॉ. राजेन्द्र पाण्डेय; भारत का सांस्कृतिक इतिहास, तृतीय सं. 2002, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ, पृ. 256.
68. डॉ. राजेन्द्र पाण्डेय; भारत का सांस्कृतिक इतिहास, तृतीय सं. 2002, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ, पृ. 201.
69. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ. 264.
70. सतीशचंद्र; मध्यकालीन भारत (सल्तनत से मुगलकाल तक) दिल्ली सल्तनत 1526–1748, प्रथम सं. 2001, तृतीय सं. 2006, जवाहर पब्लिशर्स एंड़ डिस्ट्रीब्यूटर्स, 15, डी.डी.ए, मार्केट बेर सराय, नई दिल्ली–110016, पृ. 379.
71. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ. 272.
72. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, पहला सं. 1956, तीसरा सं. 2010, पुनर्मुद्रण 2012, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–211001, पृ.–233.
73. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ. 252.
74. अलेक्जेंडर आई. चिचेरोव; मुगलकालीन भारत की आर्थिक संरचना (सोलहवीं से अठारहवीं सदी के मध्य व्यापार और दस्तकारी), अनुवाद : मंगलनाथ सिंह, प्रथम सं. 2003, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, बी–7, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092, पृ. 144.
75. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ. 271.

76. सतीशचंद्र; मध्यकालीन भारत (सल्तनत से मुगलकाल तक) दिल्ली सल्तनत 1206–1526, प्रथम सं. 2000, पुनर्मुद्रण 2007, जवाहर पब्लिशर्स एंड़ डिस्ट्रीब्यूटर्स, 15, डी.डी.ए, मार्केट बेर सराय, नई दिल्ली–110016, पृ. 243.
77. वही, पृ. 253.
78. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ. 271.

पंचम अध्याय : आल्वार संत 'पेरियाल्वार' और अष्टछाप कवि 'सूरदास' का तुलनात्मक अध्ययन

5.1 आल्वार संत पेरियाल्वार के 'प्रबंधम्' एवं सूरदास के 'सूरसागर' का विवेचन

5.2 पेरियाल्वार एवं सूरदास के आराध्य का तुलनात्मक अध्ययन

- 5.2.1 आराध्य के प्रति विनीत भावना के पद
- 5.2.2 श्रीकृष्ण जन्मोत्सव के पद
- 5.2.3 लोरी गीत की अवस्था के पद
- 5.2.4 चंद्रदर्शन के पद
- 5.2.5 प्रेम का संयोग एवं वियोग पक्ष
- 5.2.6 गोपियों की उलाहना के पद
- 5.2.7 गोचारण के पद

5.3 पेरियाल्वार और सूरदास की रामभक्ति

5.4 संत पेरियाल्वार की सांस्कृतिक मान्यताएं

5.5 अष्टछाप कवि सूरदास की सांस्कृतिक मान्यताएं

5.6 पेरियाल्वार एवं सूरदास की काव्य शैली

पंचम अध्याय :

आल्वार संत 'पेरियाल्वार' और अष्टछाप कवि 'सूरदास' का तुलनात्मक अध्ययन

5.1 आल्वार संत पेरियाल्वार के 'प्रबंधम्' एवं सूरदास के 'सूरसागर' का विवेचन

आल्वार संत पेरियाल्वार का 'प्रबंधम्'

आल्वार संत पेरियाल्वार की 'तिरुप् पल्लाण्डु' और 'पेरियाल्वार तिरुमोलि' दो रचनाएं हैं। पेरियाल्वार ने भक्ति के 473 पदों की रचना की है। 'तिरुप् पल्लाण्डु' दिव्य मंगल गीत है। जिसमें भगवान की रक्षा की कामना की गई है। इसमें भगवान की मंगल कामना के बारह पद हैं। 'तिरुप् पल्लाण्डु' का अर्थ है जुग जुग जीयो। पेरियाल्वार अर्थात् 'विशेष आल्वार' जिनकी भक्ति में भगवान के मंगल की कामना की है। भक्त की दो दशाओं को बताया गया है ''भगवान के भक्त की दो दश्ताायें होती हैं–एक है ज्ञान दशा, और दूसरी है प्रेम दशा। ज्ञानदशा में भक्त भगवान के रक्षत्व पर विश्वास करता है और आत्म रक्षा के लिए उन्हींकी शरण में रहता है। प्रेमदशा में स्थिति इसके विपरीत है। तब भगवान के प्रति भक्त का प्रेम अपरिमित रहता है। अतः अपनी प्रेममूलक भक्ति के कारण भक्त का अंतस्तल भगवान के हित के लिए अतीव व्याकुल रहता है। इसी प्रेम दशा तथा इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न व्याकुल स्थिति के कारण पेरियाल्वार भगवान की मंगल कामना करते हैं।''[1] विष्णुचित्त का भगवान के प्रति दिव्य मंगल भाव इन्हें पेरियाल्वार अर्थात् 'विशेष आल्वार' बना देता है।

'पेरियाल्वार तिरुमोलि' जिसमें भक्ति के 461 पद हैं। जो पाँच शतकों में विभाजित हैं और प्रत्येक शतक दस शतकों में। प्रबंध का आरंभ रक्षामंगल (तिरुप्पलाण्डु) से होता है। श्रीकृष्ण की बालमाधुरी में आल्वार इतने मग्न हुए कि साक्षात् यशोदा बन गए। इनके

पदों में कृष्ण के जन्म से लेकर किशोरावस्था की क्रीड़ाओं का साक्षात्कार होता है। इन्होंने बाल कृष्ण की विभिन्न छवियों का वर्णन किया है। पेरियाल्वार स्वयं को उनकी माता यशोदा मानकर उनकी बालचेष्टाओं का वर्णन करते हैं। इन्होंने 'पिळ्ळै तमिल' अर्थात् बाल चरित्र का निर्माण किया है। इन्होंने बालकृष्ण की अतिसूक्ष्म लीलाओं का गायन किया है। कृष्ण का जन्म, गोकुल में नंदोत्सव, श्रीकृष्ण को पालने में सुलाना, लोरी सुनाना, कनछेदन, चाँद को बुलाना, स्नान करना, ताली बजाना, नर्तन करना, हौआ दिखाना, माखन चोरी, बछड़ों को खोल देना आदि बाल लीलाओं का वर्णन किया है। पेरियाल्वार ने स्वंय माता बनकर कृष्ण विषयक अपनी चिंताओं को दिखाया है। पेरियाल्वार के कृष्ण कोई साधारण बालक नहीं हैं। वह सर्वसम्पन्नशाली, सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान परमेश्वर हैं। उनके हर पद में कृष्ण के विभिन्न अवतारों का नाम लेकर स्तुतियाँ की गई हैं। उनके कृष्ण शेषशैयाधारी वैभवशाली कृष्ण हैं। पेरियाल्वार के पदों में माता की पुत्री विषयक चिंता दिखाई देती हैं। पेरियाल्वार, गोपियों की भी माता बन जाते हैं और अपनी पुत्री की चिंता करने लगते हैं, जो कृष्ण के साथ है। पेरियाल्वार के काव्य में रामभक्ति के पद मिलते हैं। दो दशको में श्रीराम संबंधी पद हैं। एक दशक में राम जी का संदेश हनुमान जी, सीता के पास लेकर जाते हैं। इनके पदों में सर्वमंगल की कामना की गई है।

आल्वार के पदों में दास्य और वात्सल्य भाव की भक्ति मिलती है। दास्य भाव की भक्ति के अंतर्गत आल्वार अपना सम्पूर्ण दायित्व प्रभु पर डालकर निश्चिंत हो जाते हैं। पेरियाल्वार का विश्वास दृढ़ है, हृदय में किसी प्रकार का संशय नहीं है और सदैव एक ही कामना है कि शंख और चक्र धारण करने वाले अपने दास की प्रत्येक स्थिति में रक्षा करेंगे।

सूरदास का 'सूरसागर'

'सूरसागर' हिंदी कृष्ण भक्त कवि सूरदास का प्रामाणिक ग्रंथ है। सूरसागर का प्रतिपाद्य श्रीमद्भागवत पर आधारित है। सूरदास जी ने श्रीमद्भागवत की अनुच्छाया पर अपने सूरसागर की रचना की है, अतैव उनके कथानक में एकसूत्रता का परिचय प्राप्त होता है और यही

कारण है जिससे उनका काव्य मनोरम हो गया है। जिस प्रकार भागवत बारह स्कन्धों में विभाजित है, उसी प्रकार सूरसागर में बारह स्कन्ध हैं। नवम् स्कन्ध में श्रीरामावतार का उल्लेख है। दशम स्कन्ध में श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन मिलता है। सूरदास ने सूरसागर में सवा लाख पदों की रचना की है। इन पदबाहुल्य में भाव बाहुल्य का समावेश होने से यह पद अत्यंत मनोहर है। भागवत में राधा अनुपस्थित है, जबकि सूरसागर में राधा कृष्णप्रिया हैं। सूर को राधा के मान पर अभिमान है। सूरसागर में कृष्णलीलाओं का व्यवस्थापन भागवत के कथाक्रमानुसार हुआ है। सूरसागर का मुख्य वर्ण्य विषय श्रीकृष्ण की लीलाओं का गायन रहा है। श्रीकृष्ण की बाल अवस्था, विविध लीलाएँ, ब्रजवास, मथुरा प्रयाण, द्वारका गमन और कुरूक्षेत्र में ब्रजवासियों से भेंट का क्रमबद्ध वर्णन किया है।

सूरसागर में आत्मनिवेदन के पद है। राधा–कृष्ण की विविध लीलाओं का चित्रण मिलता है। सूरदास का भक्त हृदय श्रीकृष्ण के प्रत्येक क्रियाकलाप में लीलाओं का दर्शन करता है। सूर के कृष्ण जब चलते हैं, तो उसमें एक लीला है। श्रीकृष्ण खाते हैं, उठते हैं, बैठते हैं, चाँद माँगते हैं, गोपियों के घर चोरी करते हैं, मटकी फोड़ते हैं, धेनु चराते हैं, रास रचाते हैं, असुरों का संहार करते हैं, वेणु वादन करते हैं, गोपियों से प्रेम निवेदन करते हैं, उनसे छल करते हैं, ऊखल से बंधते हैं, कालिया मर्दन करते हैं, चीर चुराते हैं, राधा के साथ कुंजों में विहार करते हैं, कुब्जा उद्धार करते हैं, कंस वध करते हैं, गोपियों को उद्धव द्वारा संदेश भेजते हैं आदि–आदि, तो यह सब श्रीकृष्ण के सामान्य क्रियाकलाप न होकर, कृष्णलीलाएं हैं। जिनका वर्णन सूरसागर में गेय शैली में हुआ है।

सूरसागर और पेरियाल्वार तिरूमोलि दोनों में श्रीकृष्ण की लीलाओं का अद्‌भुत चित्रण है। सूरदास का कृष्णभक्तिकाव्य भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही दृष्टियों से सम्पन्न है। सूर का भावावेग अत्यंत सीमाओं को लांघकर व्यक्ति को कृष्ण के अनुराग में रंग देता है। सूरसागर में कृष्ण जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का संकेत मिलता है। इसकी रचना करके सूर ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। राधा और कृष्ण के अनंत आनंददायक लीलाओं के साथ–साथ भ्रमरगीत की कल्पना सूर की अत्यंत नई सूझ है। जिसकी आगे चलकर परम्परा ही स्थापित हो गई। सूरसागर में सामाजिक वातावरण के अधिक तत्त्व उपलब्ध

होते हैं। सूरदास ने अपने काव्य में तत्कालीन समाज में प्रचलित अन्यान्य परंपराओं के आधार पर अनेक चित्र अंकित किए है।

5.2 पेरियाल्वार एवं सूरदास के आराध्य का तुलनात्मक अध्ययन

पेरियाल्वार और सूरदास दोनों के भक्त हृदय ने श्रीमन्नारायण के श्रीकृष्ण स्वरूप को अपना आराध्य बनाया है। छठी–सातवीं शताब्दी में दक्षिण प्रदेश में श्रीकृष्ण के बालमाधुर्य का जो वर्णन संत पेरियाल्वार के पदों में मिलता है। वही माधुर्य उत्तर भारत के अष्टछाप कवि सूरदास के पदों में मिलता है। ''पेरियाल्वार ने कण्णन (कृष्ण) को बालक रूप में भवित कर भक्तिपूर्ण पदों की रचना की है।''[2] स्थान, काल, भाषा, संस्कृति, लोकव्यवहार, पारिस्थितिक परिवेश में अंतर होने के बावजूद एक अद्‌भुत साम्य इनके पदों में मिलता है।

5.2.1 आराध्य के प्रति विनीत भावना के पद

पेरियाल्वार और सूरदास दोनों ने अपने आराध्य की प्रशस्ति में स्वंय को दास बनाकर आत्मनिवेदन किया है। सूरदास ने सूरसागर के प्रथम पद में श्री हरि के चरण कमलों की वंदना की है। सूरसागर का आरंभ विनय के पदों से होता है।

चरण कमल बंदौ हरि राइ।

जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे को सब कुछ दरसाई।।

बहिरौ सूनै, मूक पुनि बोले, रंक चलै सिर छत्र धराई।

सूरदास स्वामी करूनामय, बार–बार बंदौ तिहि पाइ।।[3]

सूरसागर के प्रथम पद श्रीकृष्ण को सर्वसार्म्थयवान घोषित करते हुए उनके कमल रूपी चरण की वंदना करते हैं। जिनकी कृपा से लंगड़ा व्यक्ति भी पर्वतों को पार कर लेता है, अंधे को सब दिखने लगता है, बहिरे को सुनाई देता है, मूक पुनः बोलने लगता है, कंगाली भी छत्रधारी राजा हो जाता है। सूरदास कहते हैं, मैं ऐसे दयामय स्वामी की बार–बार वंदना करता हूँ।

पेरियाल्वार का भक्त हृदय अद्‌भुत है, जो अपने आराध्य की मंगल कामना करता है। पेरियाल्वार कृत 'तिरुप् पल्लाण्डु' (दिव्य मंगल गीत) में भगवान की रक्षा की कामना की गई है। जब भगवान के प्रति प्रेम अपरिमित रहता है, तो भक्त उनकी ही रक्षा की कामना करने लगता है। पेरियाल्वर ने भगवान की रक्षा के लिए मंगल गीत गाए हैं।

पल्लाण्डु पल्लाण्डु पल्लायिरत्ताण्डु

पल्कोडि नूरायिरमुम्

मल्लाण्ड तिण्डोल् मणिवण्णा! उन्

शेवडि चेव्वि तिरुक् काप्पु।।[4]

''चाणूर, मुष्टिक आदि मल्लों का संहार करने वाले भुज–बल से युक्त नील रत्नवत् वर्ण के हे भगवान नारायण! अनेकानेक वर्षों तक, कल्प–कल्पान्त तक तथा कोटि कोटि सहस्त्रों वर्षों तक आपके सुंदर श्रीचरणों का असीम सौंदर्य बना रहे!''[5]

सूरदास अपने आराध्य के चरण कमलों की वंदना करते हैं। जिनकी कृपा से असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाता है। पेरियाल्वार, भगवान के चरणों की वंदना नहीं करते अपितु उनके चरणों के सौंदर्य की मंगल कामना करते हैं। इस आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कृष्ण की भक्ति उनके प्रति अनन्यम अनुराग को तो दर्शाती ही है, साथ ही अपने हित की आकांक्षा और कुछ–कुछ ईश्वर का भय भी दृष्टिगोचर होता है। जबकि इसी संदर्भ में पेरियाल्वार के पदों में कृष्ण के प्रति अनुराग तो है ही साथ–साथ भय या हित की आकांक्षा के स्थान पर उनके (कृष्ण) हित की कामना प्रबल दिखाई देती है।

5.2.2 श्रीकृष्ण जन्मोत्सव के पद

पेरियाल्वार और सूरदास दोनों के पदों में श्रीकृष्ण जन्मोत्सव हर्षोल्लास के साथ वर्णित है। ऐसा प्रतीत होता है मानो दोनों द्वापर युग में पहुँच गए हों

ओडुवार् विषुवार् उकन्तालिप्पार्

नाडुवार् नम्पिरान् एंकुन्तान् एन्पार्

पाडुवार्कळुम् पल् परै कोट्ट निन्रु

आडुवार्कळुम् आयिट्रु आय्प् पाडिये।।[6]

नंद के यहाँ कृष्ण के जन्म की खबर पाकर गोकुलवासी उत्सव मना रहे हैं। नंद बाबा के प्रासाद की ओर दौड़ रहे हैं; 'प्रासाद के आंगन में तेल–मिश्रित हल्दी चूर के कीचड़ के फैल जाने से दौड़ आने वाले लोग कीचड़ में फिसलकर गिर पड़ते हैं। फिर उठते हैं; दौड़ते हैं; अतिशय आनन्द के कारण ऊँची ऊँची आवाज करते हैं। दैवी शिशु की तलाश करते हैं और चारों तरफ़ पूछते हैं कि हमारे स्वामी कहाँ हैं। फिर यह सोचकर कि शीघ्र उनके दर्शन होनेवाले हैं, लोग आनन्द–मग्न होकर गाते हैं; नाना प्रकार के वाद्य बजाते हैं; उन वाद्यों के ताल के अनुसार नर्तन भी करते हैं।'[7]

प्रौढ़ावस्था में नंद–यशोदा को पुत्र की प्राप्ति हुई है। पूरे नंदगांव में आनंदोत्सव मनायाा जा रहा है। सूरसागर में कृष्ण जन्मोत्सव का बड़े विस्तार से वर्णन किया है।

नंदराइ कैं नवनिधि आई।

माथैं मुकुट, स्त्रवन मनी कुंडल, पीत वसन, भुज चारि सुहाई।।

बाजत ताल मृदंग जंत्र गति, चरचि अरगजा अंग चढ़ाई।

अच्छत दूब लिए रिसि ठाढ़े, बारनि बंदनवार बंधाई।।

छिरकत हरद दही, हिय हरषत, गिरत अंक भरि लेत उठाई।

'सूरदास' सब मिलत परस्पर, दान देत, नहिँ नंद अघाई।।[8]

प्रस्तुत पद के अनुसार श्रीकृष्ण के जन्म लेने पर नंदराय के घर नवनिधियाँ (पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुंद, कुंद, नील और खर्व) आ गई हैं। चतुर्भुज के सिर पर मुकुट, कानों में कुंडल, तन पर पीले वस्त्र शोभा दे रहे हैं। ऋषि चावल और दूब लिए खड़े हैं। दरवाजे पर बंदनवार बांधा गया हैं। ताल–मृदंग बज रहे हैं, केसर कस्तूरी चंदन का अरगजा बनाकर उनके शरीर पर लेप लगाया गया है। हल्दी, दही छिड़की जा रही है। लोग दही हल्दी में फिसलकर गिर रहे हैं। दूसरे लोग गिरनेवाले को पकड़कर उठाए जा रहे हैं और गले से लगा रहे हैं। नंद दान देने से नहीं अघा रहें। खूब दान दे रहे हैं।

सूरदास तथा पेरियाल्वार दोनों के यहाँ कृष्णजन्मोत्सव की बधाई के चित्रण में साम्य मिलता है। वैभवमय कृष्णावतार की लीलाओं में आत्मविभोर हुए आल्वार के लिए तिरुक्कोट्टियर क्षेत्र गोकुल हो जाता है। आल्वार और सूरदास दोनों का वर्णन प्रत्यक्षदर्शी वर्णन प्रतीत होता है।

5.2.3 लोरी गीत की अवस्था के पद

यशोदा बने पेरियाल्वार बालकृष्ण को सुलाने की चेष्टा कर रहे हैं। कृष्ण से कह रहे हैं हीरे–मणिक जड़ित सुवर्ण का पालना ब्रह्मा ने भेजा है एवं तरह–तरह के आभूषण देवताओं द्वारा भेजे गए है।

उडैयार् कन– मणिथोडु ओण्– मादुळम्–पू,

डडै विरवि–क् कोत्त एळिल तेळ्हिनोडु,

विडै–एरू कापालि ईरान् विङ्ङ–तन्दान्,

उडेयाप्! अळेल् अळेल् तालेलो,

उलहम् अळन्दाने! तालेलो।।[9]

'भूषोचित–सुवर्ण–मणि सहित बीच में मिश्रित दाडिम–पुष्प सदृश–भूषण पिरोयी हुई करधनी वृष वाहन कपाली ईश्वर ने भेजी। प्रभो, रोओ मत, रोओ मत। सो जाओ, लोक विक्रांत सो जाओ।'[10]

कन्हैया हालरू रे।

गढ़ि गुढ़ि ल्यायौ बाढ़ई, धरनी पर डोलाइ, बलि हालरू रे।

इक लख माँगे बाढ़ई, दुइ लख नंद जु देहिं, बलि हालरू रे।

रतन जडित वर पालनौ, रेसम लागी डोर, बलि हालरू रे।

कबहुँक झूलै पालना, कबहुँ नंद की गोद, बलि हालरू रे।

झूलैं सखी झुलावहीं, 'सूरदास' बलि जाइ, बलि हालरू रे।[11]

यशोदा बालकृष्ण को पालने में झूला रही हैं। बढ़ई इसे गढ़कर, धरती पर पूरा परीक्षण कर तब लाया है। बढ़ई ने इसका मूल्य एक लाख माँगा था। नंदबाबा ने उसे प्रसन्न होकर दो लाख दिए हैं। पालने में रत्न जड़े हुए हैं और रेशम की ड़ोरी लगी हुई है। कृष्ण कभी पालने में झूलते हैं, कभी नंदबाबा की गोद में आ जाते हैं। सखियाँ कृष्ण को झुला रही हैं। सूरदास पालने पर झूलते श्याम को देखकर बलि बलि हुए जा रहे हैं।

पदों से ज्ञात होता है कि आल्वार के कृष्ण वैभवशाली है। कृष्ण का अभिजात्य रूप मिलता है। वह कोई साधारण बालक नहीं हैं। उनके लिए स्वंय ब्रह्मा ने पालना भेजा है। पालना मणिक, हीरो से खंचित शुद्ध स्वर्ण से निर्मित है। वही सूरदास लोक व्यवहार में रचना करते हैं। उनके कृष्ण मिट्टी में लोटने वाले साधारण बालक हैं। उनके बालकृष्ण का पालना बढ़ई द्वारा रचित है। रत्न जड़ित पालने में रेशम की ड़ोरी है। सखियाँ उन्हें झुलाती हैं।

5.2.4 चंद्र दर्शन के पद

माता यशोदा बन पेरियाल्वार चंद्र को बुला रहे हैं। चंद्र को बुलाने के लिए कभी उन्हें प्रलोभन देते हैं, कभी उलाहना देते हैं, कभी चेतावनी देते हैं। किंतु विनय का भाव नहीं है।

शिरियन् एनरू एन् इळम्–शिड्•गतै इहळेल् कण्डाय्

शिरूमैयिन् वार्तैयै मावलि–यिडै–च–चेन्रू केळ्

शिरूमै–प् पिहे कोळ्ळिल् नीयुम् उन्तेवैक्कु उरियैकाण,

निरै–मदी! नेडु–माल् विरैन्दु उन्नै–क कूवुकिन्शन।।[12]

प्रस्तुत पद में आल्वार कहते हैं 'छोटा समझ कर मेरे इस छोटे सिंह का अनादर मत करना, देखो! छुटपन की बात को महाबलि के पास जा कर पूछ लो। यदि छोटा समझने की भूल तुम मान लेते हो तो तुम भी सेवा के योग्य बन जाओगे। समझे। पूर्ण चंद्र! सर्वश्रेष्ठ अधीरता से तुम्हें बुला रहा है।'[13]

सूरदास की यशोदा चंद्र को बुला रही हैं जब कृष्णचंद्र, चंद्र लेने की हठ करने लगते हैं

ऐसौ हठी बाल गोविंदा।

अपने कर गहि गगन बतावत, खेलन कौ माँगै चंदा।।

वासन मैं जल धरयौ जसोदा, हरि कौ आनि दिखावै।

रूदन करत, ढूँढ़त नहीं पाँवत, चंद धरनि क्यौं आवै।।

मधु मेवा पकवान मिठाई, माँगि लेहु मेरे छौना।

चकई डोरी, पाट के लटकन, लेहु मेरे लाल खिलौना।।

संत उबारन, असुर संहारन, दूरि करन दुख–दंदा।

'सूरदास' बलि गई जसोदा, उपज्यौ कंस–निकंदा।।[14]

सूरदास की यशोदा के बाल गोविंदा ऐसे हठी हैं कि वह यशोदा से खेलने के लिए चाँद ही माँग रहे हैं। जिद कर रखी है कि चाँद ही चाहिए। यशोदा ने एक थाल में जल भरकर उसमें पड़ता चंद्र प्रतिबिंब बालकृष्ण को लाकर दिया। वह जल में हाथ डालकर चंद्र को ढूँढ़ने लगे। न पाने पर वह रोने लगे। फिर मैया तरह–तरह के प्रलोभन दे रही हैं कि मधु, मीठा पकवान, मिठाई जो भी चाहो मुझसे माँग लो। खिलौना ही चाहते हो तो चकई ड़ोरी ले लो, रेशम के धागे में लटकता लट्टू ले लो। संतों का उद्धार करने वाले, असुरों का संहार करने वाले, दुखों को दूर करने वाले तथा कंस का विनाश करने वाले कन्हैया उत्पन्न हो गए हैं। यशोदा उन पर बलि बलि जा रही हैं

पेरियालवार और सूरदास में यहाँ वैचारिक अंतर नज़र आता है सूरदास की यशोदा कृष्ण को बहला रही हैं। यशोदा चाँद को बुलाने का उपक्रम कर रही है। लेकिन यशोदा बने पेरियाल्वार चाँद को कृष्ण के विक्रमशाली रूप का गुणगानकर पास आने का आदेश कर रहे हैं।

आल्वार संतों में पेरियाल्वार ने बालकृष्ण की सूक्ष्मातिसूक्ष्म लीलाओं का चित्रण किया है। कुलशेखराल्वार तथा आण्डाल के काव्य में बाल प्रसंगों का केवल संकेत मात्र मिलता है। अष्टछाप के कवि परमानंददास का भी बाल चित्रण विशद एवं मनोहारी है। फिर भी मातृ हृदय की स्वाभाविकता का वर्णन करने में सूरदास का अप्रतिम है। सूर के कृष्ण की विशेषता यह है कि उन्हें जो जिस रूप में भजता है, वे उसी रूप में मिल जाते हैं।

5.2.5 प्रेम का संयोग और वियोग पक्ष

वात्सल्य भाव मानव–मन के प्रमुखतम भावों में से है, सूर ने वात्सल्य रस का अत्यंत व्यापक वर्णन किया है। इनके संयोग वात्सल्य का मुख्य आश्रय यद्यपि यशोदा ही रही हैं, तथापि देवकी, रोहिणी, वसुदेव, नंद, गोपियाँ एवं अन्य ब्रजवासी की इसके आधार आनंद से

वंचित नहीं रहे हैं। संयोग वात्सल्य की जितनी भी भूमियाँ हो सकती हैं। प्रायः उन सभी का वर्णन करके सूरदास ने विशेषतः मातृ हृदय सजीव तथा स्वाभाविक वर्णन किया है। वियोग वात्सल्य के वर्णन में भी सूरदास ने अपनी सहृदयता और मनोवैज्ञानिक का पूर्ण परिचय दिया है

देखि माई हरि जू की लोटनि।

यह छबि निरखि रही नंदरानी, असुँवा ढरि ढरि परत करोटनि।।

परसत आनन मनु रवि–कुंडल, अंबुज स्त्रवत सीप–सुत जोटनि।

चंचल अधर, चरन कर चंचल, मंचल अंचल गहत बदनोटनी।।

लेति छुडाई महरि कर सौं कर, दूरि भई देखति दुरि ओटनि।

'सूर' निरखि मुसुकाइ जसोदा, मधुर मधुर बोलति मुख होठनि।।[15]

वात्सल्य का संयोग वर्णन जितना मधुर है। यशोदा का वियोग उतना ही विकल कर देता है। वियोग की दशा में यशोदा का देवकी को संदेश सहृदय पाठक को उद्वेलित कर देता है।

सँदेसौ देवकी सौं कहियौ।

हौं तौ धाइ तिहारे सुत की, मया करत ही रहियौ।।

जदपि टेव तुम जानतिँ उनकी, तऊ मोहिँ कहि आवै।

प्रात होत मेरे लाल लड़ैतैं, माखन रोटी भावै।।

तेल उबटनौ अरु तातौ जल, ताहि देखि भजि जाते।

जोइ जोइ माँगत, सोइ सोइ देती, क्रम क्रम करिकै न्हाते।।

'सूर' पथिक सुनि मोहिँ रैनि दिन, बढ़यौ रहत उर सोच।

मेरौ अलक लड़ैतौ मोहन, ह्वैहै करत सँकोच।।[16]

यशोदा पथिक से कह रही हैं– हे पथिक, तुम मेरा यह संदेश देवकी से कहना कि मैं तुम्हारे बेटे की दूध पिलाने वाली दाई हूँ, अतः मुझ पर दया बनाए रखें। यद्यपि तुम कन्हैया की आदत अब तक जान गई होगी, फिर भी तुम्हें बता देती हूँ। सबेरा होते ही मेरे लाल को माखन और रोटी पसंद है। तेल, उबटन और गर्म जल देखते ही दूर भाग जाता है। जो–जो वो माँगता था, मैं वह–वह देती जाती थी। वह ज्यों–त्यों करके नहाते थे। अब रात दिन मुझे यही सोच बनी रहती है कि मेरा लाड़ला अपरिचितों के बीच भारी संकोच करता होगा। भूख लगने पर भी नहीं माँगता होगा, भूखा ही रह जाता होगा।

सूरदास ने मातृ हृदय का अत्यंत स्वाभाविक और सरल चित्र खींचा है। 'माता' शब्द इतना पवित्र है जिसकी व्याख्या कवि के अतिरिक्त और कोई कर ही नहीं सकता। पुत्र के वियोग में माता यशोदा जो प्रेम की असीम उपलब्धि से पूर्ण है वे प्रेम के वियोग के रूप में परिवर्तित होकर पूर्णतः के किसी भी अंश को कम नहीं कर सका है। यशोदा उन माताओं में से नहीं है, जो अपनी संतान के लिए मंगल की आशा में ईश्वर की ओर देखा करती है। वह अमंगल की आशंका से कभी उद्विग्न नहीं होती। यशोदा माता के रूप में पूर्णता को लिए हुए है।

गायों के पीछे आने वाले मोरपंखी श्रीकृष्ण के दर्शन से गोपियों की प्रेमदशा का वर्णन पेरियाल्वार इस प्रकार कर रहे हैं

शाल–प् पन्–नि़रैप् पिन्ने तल़ै–क् कांविन् कील् त्

तन् तिरुमेनि निन्रुं ऑळि तिहलल्

नील नल्–नरुङ् कुञ्चि नेत्तिरत्ताल्

अणिन्दु पल्लायर् कुल़ाम् नडुवे

कोल–च् चेन्–तामरै–क्–कण् मिळिर–क्

कुल़ल् उन्दि इशै पाड़ि–क् कुनित् आयरोडु

आलित्तु वरुहिन्र आय–प् पिळ्ळै

अल्हु कण्डु ऍन् महळ् अयर्क्किन्रदे।[17]

भावार्थ :

गायों के पीछे आनेवाले मोरपंखधारी

बालक कृष्ण का शरीर शोभायमान है।

अपने सुन्दर चिकुरों का मोर पंख से शृंगार करके

आँखों में अंजन लगाकर

गोप बालकों के साथ

बाँसुरी बजाता बालक कृष्ण आ रहा है।

गीत गाते और नृत्य करते आनेवाले

बालक कृष्ण का सौंदर्य देखकर

मेरी पुत्री प्रेमवश गद्गद् हो उठती है।[18]

पेरियाल्वार ने कृष्ण सौंदर्य पर मुग्ध कन्या की व्यामोह की दशा का वर्णन इस प्रकार करते हैं

वल्लि नुण् इदष़न्न आडै कोण्डु

वशैयरत् तिरुवरै विरित्तु उडुत्तु

पल्लि नुण् पट्राक उडैवाळ् चात्तिप्

पणैक्कच्चु उन्तिप् पलतष़ै नडुवे

मुल्लै नल् लरु मलर् वेंगै मलर् अणिन्तु

पल्लायर् कुषाम नडुवे

एल्लियम् पोताहप् पिळ्ळै वरुम्

एतिर् निन्र अंगु इन वळै इषवेल्मिने।।[19]

''नन्दनन्दन कृष्ण सुकुमार–सुकोमल वस्त्र पहनकर उसपर पट्टा लगाकर, उसमें छोटा–सा कटार खोंसे हुए और चमेली और चम्पा पुष्पों की माला पहनकर सन्ध्या काल में गोप सखाओं के बीच मोर पंखों से बने छत्र की छाया में चल रहा है। उसके आगमन के पथ पर खड़ी होकर गोप कन्यायें उसकी सुन्दर चाल पर मुग्ध हुई रहती हैं। ऐसी स्थिति में स्नेह–जनित व्यामोह के कारण उन कन्याओं का शरीर शिथिल हो जाता है; तब स्वाभाविक है कि उनके हाथों से चूड़ियां खिसक जायें।''[20]

प्रेम की व्यामोह अवस्था का चित्रण पेरियाल्वार में होता है। गोप कन्या गाय चराकर लौटते हुए कृष्ण को देखते हुए विमुग्ध हो जाती हैं तथा उसको (कृष्ण) को पुनः देखने की अकुलाहट होने लगती है। ऐसी विचित्र स्थिति उस गोपी की हो जाती है। पेरियाल्वार और सूरदास दोनों ने प्रेम के संयोग एवं वियोग पक्षों को उठाया है। सूर के पदों में कृष्ण के मथुरा गमन पर सम्पूर्ण ब्रज विरहावस्था में होता है। पेरियाल्वार एक गोप कन्या की माता बनकर उसकी विरहाकुल स्थिति का वर्णन करते हैं।

5.2.6 गोपियों की उलाहना के पद

कृष्ण की बाल क्रीडाओं में उनका माखन चोरी करना प्रसिद्ध है। कृष्ण गवाल बालों के साथ माखन चोरी करते हैं। माखन चोरी करने के साथ–साथ माखन बिगाड़ते भी हैं और फिर माखन वाल पात्र को भी तोड़ देते हैं। कृष्ण की इन शरारतों की शिकायत गोपीयाँ यशोदा से करती हैं–

वेण्णेय् विळुङ्गि वेरुङ्–कलत्तै

वेर्पिडै इट्टु अदन् ओशै केट्कुम्

कण्ण–पिरान् कर्र कल्वि तन्नै–क्

कान्क किल्लोम् उन् महनै–क् कावाय्,

पुण्णिर् पुळिप्पु एय्दाल् ओक्कुम् तीमै

पुरै–पुरैयाल् इवै शेय्य वल्ल,

अणणर्कु अण्णान् ओर महनै–प् पेर्र

अशोदै–नङ्गाय! उम महनै–क् कूवाय्।[21]

गोपियाँ यशोदा को उलाहना दे रही हैं, ''मक्खन निगल, खाली भांडे को पत्थरर पर मार, उसकी ध्वनि को श्रवण करने वाले प्रभु कान्हा की सीखी (चोरी करने की) विद्या को हम रोक नहीं पातीं। (तुम हीं) अपने पुत्र को रोको। ब्रज में इमली (रस) डालने के समान घर–घर शरारत करने में निपुण और बड़े भाई से भिन्न स्वभाववाले एक पुत्र को जन्म देने वाली पूर्ण यशोदा! अपने पुत्र को बुलाओ।''[22]

सूर की गोपियाँ अपनी शिकायतों का बड़े विस्तार पूर्वक वर्णन करती हैं–

तेरैं लाल मेरौ माखन खयौ।

दुपहर दिवस जानि घर सूनौ, ढूँढ़ि–ढँढ़ोरि आपही आयौ।

खोलि किवार, पैठि मंदिर मैं, दूध–दही सब सखनि खवायौ।

ऊखल चढ़ि, सींके कौ लीन्हौ, अनुभावत भुइँ मैं ढरकायौ।

दिन प्रति हानि होत गोरस की, यह ढोटा कौनैं ढँग लायौ।

'सूरदास' कौं हरकि न राखैं, तैं ही पूत अनोखौ जायौ।।[23]

गोपी उलाहना देती हुई यशोदा मैया से कह रही है– 'यशोदा, तेरे बेटे ने मेरा सारा माखन खा डाला। दोपहर के समय मेरा घर सूना देखकर ढूँढ़–ढाँढ़ करता हुआ, मेरा किवाड़ खोल कर, वह घर में घुस गया और उसने सब दूध–दही अपने संगी–साथियों को खिला दिया। वह ओखरी पर चढ़ गया और सिकहर हाथ से पकड़ लिया। जो कुछ खाते–खिलाते बना, खा गया, और जो इसे पेट भर जाने के कारण नहीं रुचा, उसे उसने धरती पर लुढ़का दिया। इसी तरह यह प्रतिदिन हमारे गोरस का नुकसान करता रहता है। तुमने अपने छोरे को यह किस ढंग पर ढाल दिया है। कैसे सिखा–पढ़ा दिया है। तू उसको रोक नहीं रखती। ऐसा लगता है जैसे एक तूने ही बेटा पैदा किया है और सबने ईंट–पत्थर पैदा किए हैं। बेटे को सभी प्यार करते हैं, पर तेरे जैसा नहीं'[24]

पेरियाल्वार के प्रत्येक पद में श्रीकृष्ण के पूर्णपरमेश्वरत्त्व की भावना है। गोपियाँ उलाहना भी दे रही हैं तो यशोदा को 'पूर्णा' कहकर सम्बोधित कर रही हैं क्योंकि वह पूर्ण (परमेश्वर) को जन्म देने वाली हैं। सूरदास की गोपियों के लिए वह एक साधारण बालक है और माता यशोदा भी साधारण माता। सूर की गोपियाँ यशोदा से कहती हैं कि तूने कोई अनोखा बेटा नहीं जना है। सूर लोकव्यवहार में बात करते हैं।

5.2.7 गोचारण के पद

पेरियाल्वार और सूरदास दोनों के पदों में गोचारण संस्कृति के दर्शन होते हैं। सूरदास की यशोदा कृष्ण के गाय चराने पर बलि–बलि जा रही हैं

जसुमति दौरि लिए हरि कनियाँ।

आजु गयौ मेरी गाइ चरावन, हौं बलि जाउँ निछनियाँ।।

मो कारन कछु आन्यौ है बलि, वन–फल तोरि नन्हैया।

तुमहिँ मिले मैं अति सुख पायौ, मेरे कुँवर कन्हैया।।

कछुक खाहु जो भावै मोहन, दै री माखन–रोटी।

'सूरदास' प्रभु जीवहु जुग–जुग, हरि हलधर की जोटी।।[25]

कृष्ण को गोचारण के लिए भेजकर माता यशोदा बने संत पेरियाल्वार ने चिंता व्यक्त की है। कृष्ण को 'देवदेव' अर्थात् देवों का नायक कहकर आल्वार ने संबोधित किया है।

अव्वव्विडम्बुक्कु अव्वायर् पेण्डिर्कु अणुक्कनाय्

कोव्वैक् कनि वाय् कोडुत्तुक् कुष़ैमै चेय्यामे

एव्वुम् शिलैयुडै वेडर् कानिडैक् कन्रिनफ पिन्

तेय्वत् तळैवनैप् पोक्किनेन् एल्ले पावमे![26]

''देवदेव कृष्ण जगह–जगह जाकर वहां की गोप कन्याओं को अधर पान कराता हुआ निज स्नेह जताता रहा। निरन्तर ऐसी शरारत करने से वह बचे–यह सोचकर उसे मैंने गोचारण के लिए गौओं के पीछे उस भयावह जंगल में भेज दिया जहाँ कठोर धनुर्धर व्याध लोग रहा करते है। अहो! ऐसा करके मैंने कितना बड़ा महापाप कर दिया! (लाड़ले कृष्ण को मैंने कितने बड़े कष्ट में ड़ाल दिया!)''[27]

उत्तर भारत और दक्षिण भारत की सामाजिक संरचना के अनुसार, पेरियाल्वार जहाँ कृष्ण के गोचारण के लिए जाने पर व्यग्रता से उनकी प्रतिक्षा करते हैं। वहीं सूर की यशोदा पुत्र के गोचारण के लिए जाने पर प्रसन्न होती हैं कि अब उनका पुत्र उत्तरदायित्त्व पूर्ण करने लगा है।

आल्वार पूर्व तमिल के संघ साहित्य के लौकिक प्रेम–काव्यों से नायक–नायिका संबंध के संयोग–वियोग दोनों पक्षों की जिन दशाओं का निर्वाह किया गया था, उन सबका आल्वारों द्वारा प्रयोग किया गया है। मधुर भाव में ईश्वर की उपासना पहली बार आल्वारों के पदों में मिलती है। वैष्णव भक्ति साहित्य को मधुर भक्ति का उद्‌गम भी माना जाता है। पेरियाल्वार के पदों में वात्सल्य भक्ति के साथ–साथ मधुर भक्ति के दर्शन होते हैं।

'पेरियाल्वार तिरूमोलि' में पेरियाल्वार अपनी पुत्री विषयक चिंता को लेकर व्याकुल हो उठे हैं, ऐसे पद सूरसागर में नहीं मिलते, जहाँ सूरदास गोपियों की माता बनकर सोचते हों। पेरियाल्वार की देखा–देखी परवर्ती काल में 'पिळळै तमिल' पद्धति के अनेक खंडकाव्यों की रचना हुई है। अष्टछाप के कवियों ने पेरियाल्वार के समान बाल चेष्टाओं का ऐसा क्रमबद्ध वर्णन किसी विशिष्ट प्रणाली के खंड काव्य के रूप में नहीं किया है। तथापि, सूरदास ने वात्सल्य रस का कोना कोना झाँककर अपनी बंद आँखों से ही अद्‌भुत वर्णन किया है। कतिपय प्रसंगों में सूरदास पेरियाल्वार से भी आगे बढ़े है। परंतु इसका कारण पेरियाल्वार और सूरदास में करीब आठ वर्षों की लम्बी परंपरा है।

5.3 पेरियाल्वार तथा सूरदास की राम भक्ति

आल्वारों का काल तमिल साहित्य का महाकाव्य–युग नहीं था। वह भक्ति के भावावेग का युग था। अतएव आल्वारों ने भावुकतापूर्ण भक्ति प्रधान गीत रचे। आल्वार उन गीतों को गाते–गाते आत्मविभोर हो जाते थे। उन्होंने साधारण जनता में भक्ति के बीज बोने का महान कार्य किया। आल्वार संतों ने कृष्णलीला का कोई प्रबंध नहीं रचा है। कृष्णलीलाओं का जैसा प्रबंध रूप आल्वारों के पदों से चुनकर प्रस्तुत किया जाता है, वैसे ही आल्वारों ने राम–काव्य से संबंधित पदों का संकलन करने पर रामायण की कथा उपलब्ध हो जाती है। आल्वार संतों में तिरूमंगै आल्वार, कुलशेखर आल्वार, पेरियाल्वार तथा नम्मालवार के काव्य में राम भक्ति के दर्शन होते हैं। पोयगै आल्वार तथा आण्डाल के पदों में अपेक्षाकृत कम मात्रा में रामायण संबंधी उल्लेख प्राप्त होते है। आल्वार भक्त प्रधानतः राम उपासक थे। तथापि, उन्होंने रामोपासना भी की है। पेरियाल्वार ने दो दशकों में राम के चरित्र का गुणगान किया है। एक दशक में पेरियाल्वार गोप कन्याएं बनकर, उनके माध्यम से ही राम–कृष्ण के वृतांतो द्वारा उनकी महिमा का वर्णन कर रहे हैं। दूसरे दशक में हनुमान जी की सीता जी से भेंट का वर्णन करते हैं।

एक ही समय में पेरियाल्वार श्रीकृष्ण और श्रीराम का अनुभव कर रहे हैं। पेरियाल्वार दो गोपियाँ बन जाते हैं, जिनमें एक गोपी श्रीकृष्ण लीलाओं का गान करती हैं और दूसरी गोपी श्रीराम लीलाओं का।

'यहाँ पर एक ऐतिह्य प्रचलित है– आचार्य श्री पराशर भट्ट से उनके शिष्य नंजीयर ने प्रश्न किया–एक ही समय आल्वार की दो कुमारियों की दशा कैसे हो सकती है?, श्रीभट्ट ने उत्तर दिया–''उपनिषद् से विदित होता है कि श्रीबैकुंठ में विद्यमान आत्माओं में से एक एक अनेक शरीर धारण कर परमात्मा की सेवा करता है। उसी तरह आल्वार भी कर सकते हैं''[28]

ताल सहित गाते हुए कन्याएँ परिक्रमा लगा रही हैं। यह कन्याओं की एक क्रीडा है जिसका उल्लेख प्राचीन तमिल संघकाल साहित्य में पाया जाता है। बीच में जलते हुए एक स्तम्भ–दीप को रखकर कन्याएं चक्राकार खड़ी हो जाती हैं और हस्त ताल के साथ गाते हुए झुकते–उठते परिक्रमा करती हैं। एक पक्ष की कन्याएं पद के पूर्वार्द्ध को तथा दूसरे पक्ष की कन्याएं उत्तरार्ध को गाती हैं

मार्रु–त्–ताय् शेन्रू वनम् पोहे एन्रिड,

ईर्रु–त्–ताय् पिन् तोडर्न्दु एम्–पिरान् एन्रु अळ,

कुर्रु–त् ताय् शोल्ल–क् कोडिय वनम् पोन,

शीर्रम इलादानै–प् पाडि–प् पर

शीतै–मणाळनै–प्पाडि–प् पर।[29]

'माता (सुमित्रा देवी) ने जा कर (श्रीराम से) कहा कि 'तुम वन चले ही जाओ'। जन्म देने वाली माता (कौशल्या देवी) अनुगमन कर 'मेरे प्रभु' कह रो उठी। मृत्यु (सदृश) माता (कैकयी) के कहने से कठिन वन जाने वाले क्रोध–विहीन (श्रीराम) का गान कर उडो। सीता प्रियतम का गान कर उडो।

{कैकेयी के वचनानुसार जब राम जी वन जाने को उद्यत हुए तब लक्ष्मण भी उनके साथ जाने का निश्चय करके माता सुमित्रा से विदा लेने उनके पास गये। माता ने सहर्ष लक्ष्मण को आशीष दिया कि राम और सीता की छाया की तरह उनके पीछे जा कर वहाँ उनकी सेवा–सुश्रुषा करते रहो। ये है वाल्मिकी रामायण के कथांश।

परंतु इस पद में विष्णुचित्त कहते हैं कि पुत्र को आदेश देने के बाद सुमित्रा जी स्वयं श्रीराम के पास जा कर उनसे बोली–यहाँ स्वार्थी लोग राज्य चाहते हैं अतः तुम्हें वन चले जाना ही उचित है। जहाँ ऐसे नीच जन नहीं रहते। तुम वन चले ही जाना।}'[30]

आल्वारों के पदों की तुलना वाल्मिकी रामायण से करने पर बहुधा अंतर दृष्टिगत होते है। आल्वारों ने कृष्ण काव्य की तरह इसे प्रबंधत्मक रूप नहीं दिया है। सूरदास ने श्रीकृष्ण लीलाओं की तरह श्रीराम लीला को भी एक प्रबंधात्मक रूप दिया है।

सूर श्रीराम जन्मोत्सव का वर्णन करते हुए विभोर होते हैं, किंतु मर्यादा का ध्यान रखते हैं क्योंकि श्रीराम राजवंश में उत्पन्न हुए है। राम के प्राकट्य का अत्यंत सुंदर वर्णन सूरसागर में करते हैं

रघुकुल प्रगटे हैं रघुबीर।

देस–देस तैं टीकौ आयौ, रतन–कनक–मनि–हीर।

घर–घर मंगल होत बधाई, अति पुरबासिनि भीर।

आनँद–मगन भए सब डोलत, कछू न सोध सरीर।

मागध–बंदी–सूत लुटाए, गो–गयंद–हय–चीर।

देत असीस 'सूर', चिर जीवौ रामचंद्र रनधीर।।[31]

''रघु के वंश में रघुवीर प्रकट हुए है। देश–देशांतर से इस अवसर पर रत्न, सोना, हीरा आदि के रूप में मंगल भेंट, उपहार की बहुमूल्य वस्तुएँ आने लगीं। घर–घर सोहर होने लगे और मंगल बधाई बजने लगी। पुरवासियों की तो ठट्ट की ठट्ट भीड़ यत्र–तत्र सर्वत्र लग उठी। सब

लोग आनंद में डूबे हुए डोल फिर रहे हैं। किसी को अपने तन–बदन की सुधि नहीं रह गई है। मागधों, बंदीजनों, सूतों को हाथी, घोड़ा, गाय, वस्त्र सभी कुछ लुटा दिया गया। वे प्रसन्न होकर आशीष दिए जा रहे हैं–रण में धैर्य धारण करनेवाले युद्धवीर राम चिंरजीवी हों।''[32]

पेरियाल्वार ने राम के पदों का वर्णन करते हुए सीता और हनुमान की अशोक वाटिका में भेंट का चित्रण किया है। सीता के संदेह दूर करने के लिए हनुमान उन्हें तरह तरह के अभिज्ञान बता रहे हैं, जो उन्हें राम जी ने बताए हैं

चित्तिर– कूडत्तु इरूप्प–च्

चिरू–काक्कै मुलै तीण्ड

अत्तिरमें कोण्डु एरिय

अनैत्तु उलहुम् तिरिन्दु ओडि,

वित्तहने! इरामाओ!

निन्– अपयम् एन्रू अळैप्प

अत्तिरमे अदन् कण्णै

अरूतदुम् ओट् अडैयाळम्।[33]

'चित्रकुट में (आप लोगों के रहते समय) क्षुद्र काक ने (आप के) स्तन को छुआ। राम ने एक अस्त्र ले कर फेंका। (उससे भयभीत) वह काक सभी लोकों में भाग घूम कर (कहीं रक्षा न पाने से राम के चरण में गिर कर) पुकारा–''विदग्ध! राम! तुम्हारी दुहाई! हाय!'' उस अस्त्र ने ही उसके एक नेत्र को निकाल डाला। यह भी एक अभिज्ञान है।'[34]

हनुमान सीता जी को तरह–तरह के अभिज्ञान करा रहे हैं। जिसमें उनके विवाह के समय धनुष भंग का वर्णन एवं परशुराम द्वारा मार्ग रोकना, कैकेयी द्वारा वरों की याचना करना, लक्ष्मण सहित राम का दण्डकारण्य जाना। शृंगिबेरपुर में गुह के संग राम की मित्रता, चित्रकूट

में राम–भरत मिलन का वर्णन, काक की दृष्टता, सीता का हिरण पर मोहित होना तथा राम का धनुष ग्रहण कर उसके पीछे निकलना तथा सीता को वहाँ अकेली छोड़कर लक्ष्मण का पीछे से निकलना आदि का वर्णन कर सीता को विश्वास दिला रहे हैं कि वह राम का सेवक है।

सूरसागर में सीता, हनुमान को यह संदेश राम तक पहुँचाने के लिए कह रहीं हैं–

कहियौ बच्छ, सँदेसौ इतनौ, जब हम वै इक थान।

सोवत काग छुयौ तन मेरौ, बरहहिं कीनौ बान।

फोडयौ नयन, काग नहिं छाँड़यौ सुरपति के बिदमान!

अब वह कोप कहाँ रघुनंदन, दससिर–बेर बिलान?[35]

सूरसागर में सीता जी, हनुमान जी से कहती हैं, प्रभु से मेरा बस इतना संदेशा कहना कि जब राम और मैं चित्रकूट में स्फिटिक शिला पर बैठे थे। तो कौवे (इंद्रपुत्र जयंत) ने सोते समय मेरे शरीर को छू लिया था। तो आपने इंद्र के समझाने पर भी उसकी आँख फोड़ दी थी। अब रावण की बार में उनका वह क्रोध कहाँ मर खप गया।

वाल्मीकी रामायण में यह वृतांत सीता हनुमान से कहती हैं। सूरसागर में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। किंतु आल्वार के पदों में राम से सुनकर हनुमान इस वृतांत को सीता जी से कहते हैं।

'सूरसागर' के लंका कांड में सूरदास ने श्रीरामचंद्र के अलौकिक स्वरूप का चित्रण किया है, जैसे पेरियाल्वार के पदों में मिलता है। सीता का पता पाकर उस समय का अद्‌भुत चित्रण सूर ने किया है,

सीय–सुधि सुनत रघुबीर धाए।

चले तब लखन, सुग्रीव, अंगद, हनू, जामवँत, नील, नल सबै आए।

भूमि अति डगमगी, जोगिनी सुनि जगी, सहस–फन सेस कौ सीस काँप्यौ।

कटक अगिनित जुर्‌यौ, लंक खरभर पर्‌यौ, सूर कौ तेज धर–धूरि–ढाँप्यौ।

जलधि–तट आइ, रघुराइ ठाढ़े भए, रिच्छ–कपि गरजि कै धुनि सुनायौ।

'सूर' रघुनाथ चितए हनूमान–दिसि, आइ तिन तुरत ही सीस नायौ।।[36]

सिंधु–तट–वास के समय जब राम को सीता का पता मालूम हो जाता है। उस समय उनकी दशा और प्रकृति की दशा का चित्रण सूरदास करते हैं, 'सीता का पता पाकर रघुवीर दौड़ पड़े। उनके साथ लक्ष्मण, सुग्रीव, अंगद, हनुमान, जामवंत, नल, नील, सभी दौड़ पड़े। उनके दौड़ने से पृथ्वी डगमगाने लगी। योगिनियाँ कोलाहल सुनकर जाग गईं। एक हजार फन वाले शेषनाग का सिर काँपने लगा। रघुराज आकर समुद्र के किनारे खड़े हो गए। बानर भालुओं ने घोर गर्जना करते हुए आकाश को गुँजा दिया। रघुनाथ जी ने हनुमान की ओर देखा। उन्होंने तुरंत वहाँ आकर उन्हें सिर झुकाया।'[37]

आल्वारों को रामकाव्य का प्रर्वतक माना जा सकता है। तमिल भाषा में आल्वारों के पूर्व उपलब्ध उल्लेख राम–काव्य के मात्र छोटे–मोटे प्रसंगों से संबंधित हैं और उन सबका संकलन करने पर भी उनमें किसी प्रबंधात्मकता स्थापित करना कठिन है। वे प्रसंग अधिकतर किसी घटना विशेष की पुष्टि में या किसी ललित भाव की अभिव्यक्ति में उल्लिखित हैं। उन प्रसंगों के प्रणेताओं का उद्‌देश्य कदापि रामावतार की मर्यादोपासना का यशोगान करना नहीं रहा।

5.4 पेरियाल्वार के पदों में सांस्कृतिक मान्यताएं

कोई भी रचनाकार जब किसी रचना में प्रवृत्त होता है। तब वहाँ की परिस्थितियों को लेकर ही रचना करता है। उसकी रचनाओं में उसके निकटतम वातावरण, आचरण, सामाजिक व्यवस्था, परिवेश आदि सभी का सम्मिलन स्वतः हो जाता है। संत पेरियाल्वार ने कृष्ण की लीलाओं को अपनी रचना का आधार बनाया है। यह स्वयं माता यशोदा बने हैं और

स्वंय यशोदा की ही भांति कृष्णानुभव कर रहे हैं। उनकी रचनाओं में वहाँ की वैभवशाली संस्कृति का वर्णन मिलता है।

पेरियाल्वार ने कृष्ण की बाल लीलाओं का माता यशोदा बनकर वर्णन किया है। आल्वार ने चाहा कि वह स्वंय कृष्णानुभव करें। लेकिन यह नहीं हो पाया। उन्होंने गोपी बनकर भी कृष्णानुभव की कामना की लेकिन उनकी इस कामना की भी पूर्ति नहीं हुई। उनके पदों में एक माता की पुत्री विषयक चिंता देखने को मिलती है। वह एक गोपी की माता के रूप में भांति–भांति की चिंताएं करते नजर आते हैं। कारण यह भी हो सकता है कि उनकी पुत्री आण्डाल कृष्ण से प्रेम करती थीं। पदों के अध्ययन से ऐसा अनुभव होता है कि उनके पुत्री संबंधी चिंता के पद अपनी पुत्री आण्डाल के लिए ही लिखे गए हैं। माता की भांति उन्हें हमेशा डर बना रहता है कि पुत्री अपने प्रियतम से मिलने गई है। कहीं समाज में वह कलंकित न हो जाए।

पेरुप् पेरूत् कण्णालकळ् चेय्तु पेणि नम् इल्लत्तुळ्ळे

इरुत्तुवान् एण्णि नामिरुक्क इवळुम् ओन्रु एण्णुकिन्राळ्

मरुत्तुवम् पतम् नींकिनाळ् एन्नुम् वातें पडुवतन् मुन्

ओरुप्पडुत्तिडुमिन् इवहे उलकळन्तान् इडैक्कै।।[36]

'गोप कन्या की माँ का कहना है–हम सोचते हैं कि मेरी इस बेटी के, समय–समय पर प्यार से शुभ सांस्कारिक कृत्य कराये जायें और इस प्रकार इसे घर के भीतर ही सुरक्षित रखा जाय। किंतु यह लड़की तो कुछ और ही सोचती है और कर बैठती है (कृष्ण के ध्यान में इधर–उधर चली जाती है।) उस स्थिति में सामाजिक अपवाद की संभावना तो है। अतः बन्धुओं ने कहा कि जैसे वैद्य अपने द्वारा बनाये गये औषध की बराबर जांच किये बिना उपयोग करा देता है और रोगी पर उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है, वैसे ही इस कन्या की स्थिति पर ध्यान न दिये जाने पर बदनामी का प्रभाव पड़ सकता है। ऐसा होने से पहले ही इस कन्या को उसके

प्रिय स्वामी, निखिल ब्रह्माण्ड को अपने पगों से नाप लेने वाले भगवान नारायण अर्थात् उनके अवतार–भूत कृष्ण के पास ले जाकर छोड़ दिया जाये।''[37]

सामाजिक मान्यताएं, समाज विषयक चिंताएं आल्वार के पदों में दृष्टिगत होती है। यह स्वाभाविक चिंताएं जो प्रत्येक कन्या के प्रति उसके माता–पिता की बनी रहती है।

पेरियाल्वार गोपी की माँ बनकर कृष्ण के साथ अपनी बेटी के सामाजिक रीतिरिवाजों के अनुसार विवाह का वर्णन करते हैं

कुमरि मणम् चेय्तु कोण्डु कोलम् चेय्तु इल्लत्तु इरुत्ति

तमरुम् पिररुम् अरियत् तामोतरर्केन्रु चाट्रि

अमरर् पतियुडैत् तेबि अरशणियै वषिपट्टु

तुमिलम् एषप् परै कोट्टित् तोरणम् नाट्टिडुंकोलो![38]

पेरियाल्वार का ममतामयी हृदय अपनी पुत्री की श्रीकृष्ण के साथ विवाह की कल्पना कर आनंदित हो रहा है 'समाज में मेरी कन्या का नानाविध मांगलिक उत्सवों के बीच वस्त्राभूषणों से अलंकरण कर, उसे विवाह मंडप में बिठाकर बंधु जनों और अन्य लोगों के बीच क्या यह घोषणा की जायेगी कि दामोदर कृष्ण के लिए इसका कन्यादान किया गया। बाद में देवादि देव कृष्ण की पत्नी के रूप में मेरी कन्या पीपल की शाखा की विधिवत् परिक्रमा करेगी; नगाड़े की ऊँची ध्वनि के बीच सारे नगर को तोरणों से सजाकर उस अलंकृत एवं मधुर वातावरण में क्या मेरी कन्या का कृष्ण के साथ सामाजिक नियमों के अनुसार परिणय संपन्न होगा? सामाजिक अपवाद की जगह, सामाजिक स्वीकृति के साथ कृष्ण के साथ कृष्ण के साथ अपनी कन्या के शुभ एवं मांगलिक विवाह की परिकल्पना कर माँ का हृदय अत्यंत प्रसन्न होता है।'[39]

गोप कन्या की माता अपनी वेदना को पड़ोस में रहने वाली स्त्री के साथ बाँट रही है।

कुडियिल् पिरन्तवर् चेय्युम् कुणम् चेय्तिनल् अन्तो!

नडैयोन्रुम् चेय्तिलन् नंकाय् नंदगोपन् मकन् कण्णन्

इडैयिरु पालुम् वणंक इळैत्तु इळैत्तु एन् मकळ् एंगि

कडै कयिरे पट्रि वांगिक् कै तषुम्पेरिडुडङ् कोलो?[40]

पडोसिन से गोप कन्या की माता कह रही है, ''हे देवि! नन्दगोप का पुत्र भले ही उच्च कुल में जन्मा हो; फिर भी उच्च कुलवालों के गुणों में से एक भी अच्छा गुण उसने ग्रहण नहीं किया है। उसका व्यवहार भी विश्व के उत्तम लोगों के अनुरूप बिल्कुल नहीं है। (वह मेरी बेटी को ले तो गया; लेकिन उसके साथ उच्च कुलवालों तथा उत्तम लोगों की तरह व्यवहार नहीं किया है। जहाँ मेरी बेटी को रानी की तरह रखना चाहिये था, उसने उसे दासी की तरह दही मथने के काम में लगा दिया है)।[41]

हाय हाय! मेरी बेटी की कमर दोनों तरफ़ दही मथते–मथते लचक जाती है; तब वह सांस रोके हुए मथ नहीं पाती; परेशान होकर दुर्बल हो जाती है; फिर मथने में काम आनेवाली रस्सी को ज़ोर से खींचने लगती है; तब उसके कोमल हाथों में गहरा घाव हो जाता है।''[42]

आल्वारों की स्थापना है कि जो लोग भगवान नारायण का स्मरण नहीं करते हैं, वे भूमि के लिए भार हैं; साथ ही वे लोग अज्ञान तम में फँसे रहते हैं–

आमैयिन् मुतुकत्तिडैक् कुति कोण्डु तूमलर् चाडिप् पोय्

तीमै चेय्तु इळवाळै कळ् विहेयाडु नीर्त् तिरुक् कोट्टियूर्

नेमि चेर् तड़ कैयिनानै निनैप्पिला वलि नेंचुडै

पूमि पारंकळ् उण्णुम् चोट्रिनै वांगिप् पुल्लैत् तिणिमिने।।[43]

'तिरुक् कोट्टियूर् क्षेत्र ऐसे विविध सरोवरों से युक्त है, जहाँ चाँद जैसी चमकती बड़ी–बड़ी मछलियों कछुओं की पीठ पर उछलती–कूदती रहती हैं; अच्छे–अच्छे पुष्पों को रौंदती–कुचलती हैं और छोटे–छोटे जल जीवों को भगा देती हैं।

इस पावन तीर्थ में सुदर्शन चक्रधारी भगवान नारायण विराजमान हैं। जो लोग उनका यानी भगवान नारायण का स्मरण एवं ध्यान नहीं करते हैं वे लोग कठिन हृदयवाले अर्थात् संगदिल होते हैं। ऐसे लोगों का जीवन निरर्थक है और भूमि के लिए भार जैसा है। इस तरह के लोग जो अन्न खाते हैं उसे हटाकर उनको घास खिला दीजिये। यह माना हुआ सत्य है कि संसार में ज्ञानियों को भात खाना है और अज्ञानियों को घास आदि ही खाने होंगे। जो लोग भगवान नारायण का स्मरणा और ध्यान नहीं करते हैं वे अज्ञानी हैं; अतः उनको भात नहीं, घास आदि ही खाने होंगे।'[44]

प्रस्तुत पद में आल्वार का आक्रोश व्यक्त हुआ है। पेरियाल्वार भगवान नाम स्मरण के बारे में जोर देकर कहते हैं कि मनुष्य को समय रहते भगवान नाम स्मरण करना चाहिए। मृत्यु के समय यम किंकरों से बचने के लिए मनुष्य को गोविन्द का नाम संकीर्तन करना चाहिए।

वायोरु पक्कम् वांगि वलिप्प वार्न्त नीर् कुषि़क कण्कळ् मिषट्र

तायोरु पक्कम् तन्तैयोरु पक्कम् तारमुम् ओरु पक्कम् अलट्र

ती ओरु पक्कम् चेर्वतन् मुन्नम् चेंकण मालोडुम चिक्केनच् चुट्रम्

आय् ओरु पक्कम् निर्कवल्लार्कु अरव दंडत्तिल उय्यलुम् आमे।।[45]

'मृत्यु से पहले की हालत क्या होती है? देखिये। वायु विकार से मुँह वक्रित हो जाता है; अश्रुसिक्त आंखें पथरा जाती हैं और भीतर धंसी रहती हैं; मृत शरीर के एक तरफ माँ, दूसरी तरफ पिता और पत्नी फूट–फूटकर रोते रहते हैं। ऐसे संदर्भ में प्राणों के चले जाने से मृत शरीर को जलाने के लिए उसमें आग लगायी जायेगी।

ऐसी स्थिति में शरीर के सशक्त रहते भगवद् ध्यान में समय का सदुपयोग किये बिना जीवन को व्यर्थ करनेवालों को चरम काल में यम किंकरों का दण्ड भुगतना पड़ता। किंतु शरीर के स्वस्थ रहते कमलनयन भगवान नारायण को आप्त बंधु के रूप में स्वीकार करते हुए जो लोग उन्हींके ध्यान में मग्न रहेंगे उनको यम–दण्ड का शिकार नहीं होना पड़ेगा।'[46]

पेरियाल्वार के पदों में दक्षिण संस्कृति के दर्शन होते हैं। तमिलनाडु को मंदिरों का प्रदेश कहा जाता है। पेरियाल्वार के दार्शनिक पदों में श्रीमन्नारायण को ही परब्रह्म मानकर उनके शक्तिशाली स्वरूप का विवेचन किया गया है।

5.5 अष्टछाप कवि सूरदास की सांस्कृतिक मान्यताएं

साधना और संस्कृति का घनिष्ठ संबंध होता है। साधना विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत और संस्कृति सामान्य रूप से सामाजिक होती हुई भी एक–दूसरे को बहुत हद तक प्रभावित करती है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कवि के निर्माण में उस युग की स्थितियाँ भी उपादान रहती हैं। हिंदी साहित्य के श्रेष्ठ भक्त कवि सूरदास है। सामाजिक भूमि सूर को सर्वाधिक प्यारी है। सूर की सांस्कृतिक मान्यताएं उन्हें लोक से जोड़ती हैं। सूर के काव्य की पृष्ठभूमि ब्रज प्रदेश है। ब्रज प्रदेश प्राचीन काल से ही संस्कृति का केंद्र रहा है। चौदहवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक कृष्ण भक्ति की धारा जो अबाध गति से प्रवाहित हुई। उसने इस समय के कवियों को भी प्रभावित किया। सूरदास ब्रज संस्कृति एवं उसकी मान्यताओं को विस्तार देने वाले अग्रगण्य कवि हैं। ''सूर के समय में तो ब्रजवासी तमोगुण से शून्य, सात्विक स्वभाव के थे ही, उनसे पूर्व भी हुऐनसांग के शब्दों में वह कोमल स्वभाव वाले तथा दूसरों के साथ आदरणीय व्यवहार करने वाले थे। वे परोपकारी, तत्त्वज्ञान के अध्येता और विद्या के प्रति सम्मान का भाव रखते थे। ब्रज की सात्विक संस्कृति ब्रजवासियों के सात्विक स्वभाव में परिलक्षित होती थी। सूरदास के सूरसागर में इसी संस्कृति के दर्शन होते हैं।''[47] सूर के काव्य में प्रकृति के सहज नैसर्गिक और विशद चित्र बहुतायत में मिलते हैं। कृष्ण लीलाओं की पृष्ठभूमि में प्रकृति चित्रण और भी आकर्षक हो गया है। प्रकृति में भी वह विरह की तलाश करते हैं और प्रीति के बंधन को दुखदायी मानते हैं

प्रीति करि काहू सुख न लहयौ।

प्रीति पतंग करी पावक सौं, आपै प्रान दहयौ।

अलि–सुत प्रीति करी जल–सुत सौं, संपुट माँझ गहयौ।

सारँग प्रीति करी जु नाद सौं, सन्मुख बान सहयौ।

हम जो प्रीति करी माधव सौं, चलन न कछू कहयौ।

'सूरदास' प्रभु बिनु दुख पावत, नैनन नीर बहयौ।।[48]

सूरदास के पदों से स्पष्ट होता है कि वह समाज से अनभिज्ञ कवि नहीं थे। डॉ. प्रेमशंकर, 'भक्तिकाव्य का समाजदर्शन' पुस्तक में कहते हैं, ''प्रेम का विकास सूरदास में सहज प्रक्रिया से होता है, जिसमें माखन–प्रसंग, गो–दोहन, गो–चारण आदि आते हैं और आगे चलकर मुरली–वादन, रास–प्रसंग हैं। सूरदास में इन लीलाओं को कृषक–चरवाहा संस्कृति से संबद्ध करके देखना उचित होगा। यहाँ ब्रजमंडल अपनी प्राकृतिक सुषमा और संस्कारों में उपस्थित है जिससे इस आरोप का खंडन होता है कि सूर में जीवन–यथार्थ के संपर्क नहीं है। यथार्थ के कई परिदृश्य होते हैं, जिनमें एक को कबीर ने ग्रहण किया और दूसरे को जायसी–सूर आदि कवियों ने।''[49] तत्कालीन सती प्रथा और युद्ध को भी सूर ने अपने पदों में दर्शाया है–

लोग सब कहत सयानी बातैं।

कहतहिँ सुगम, करत नहिँ आवैं, सोचि रहत हैं तातैं।।

कहति आगि, चंदन सी सीरी, सती जानि उमहै।

समाचार ताते अरू सीरे, पीछैं जाइ लहैं।।

कहत सबै संग्राम सुगम अति, कुसुम लता करबार।

'सूरदास' सिर देत सूरमा, साइ जानै ब्यौहार।।[50]

प्रस्तुत पद में गोपी कह रही हैं– सभी लोग चतुराई भरी बातें कहते हैं। ये बातें कहने में बड़ी सुगम होती हैं लेकिन करने में बड़ी कठिन होती हैं। इसलिए हम सोच–सोचकर रह जाती हैं। लोग कहते हैं कि सती के लिए आग चंदन सी शीतल हो जाती है। किंतु इसका पता तो उस विधवा स्त्री को तब चलता है। जब वह पति के शव के साथ

लेट जाती है। उसकी दाहकता का पता तो उसे तब चलता है। इसी प्रकार लोग कहते हैं कि युद्ध अति सुगम हैं यहाँ कृपाण भी कुसुम लता सी प्रतीत होती है। किंतु यह बात तो वह योद्धा ही जानता है कि यह फूलों के समान है या सिर काटने वाली। असली व्यहार तो वही जानता है। इसी प्रकार विरह व्यथा को समझना हर किसी के बस की बात नहीं है। उसे सहज ही मान लेते हैं।

रामचंद्र शुक्ल, 'त्रिवेणी' में सूरदास की प्रेम संयोग एवं वियोग पक्ष की आलोचना करते हुए कहते हैं, ''लोकसंघर्ष से उत्पन्न विविध व्यापरों की योजना सूर का उद्देश्य नहीं है, उनकी रचना जीवन की अनेकरूपता की ओर नहीं गई है, बालक्रीडा, प्रेम के रंग रहस्य और उसकी अतृप्त वासना तक ही रह गई है। जीवन की गम्भीर समस्याओं से तटस्थ रहने के कारण उसमें यह वस्तुगाम्भीर्य नहीं है, जो गोस्वामी की रचना में है। परिस्थिति की गम्भीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गम्भीरता नहीं दिखाई पड़ती, जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग खाली बैठे का काम–सा दिखाई पड़ता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूसरे द्वीप में राक्षसों के बीच पड़ी हुई थीं। गोपियों के गोपाल केवल दो–चार कोस दूर एक नगर में राजसुख भोग रहे थे। सूर का वियोगवर्णन वर्णन के लिए ही है। परिस्थिति के अनुरोध से नहीं।''[51] शुक्ल जी, सूर की गोपियों के विरह को खाली बैठे का काम बताते हैं। किंतु कृष्ण की गोपियाँ कृष्ण से दो–चार कोस दूर है, चाहें तो दिन में दो बार उनके दर्शन कर सकती हैं। लेकिन कृष्ण की गोपियों में एक मान है। वह विरह में तड़पती रहती है, किंतु कृष्ण से मिलने नहीं जाती। सूर को गोपियों के इसी मान पर अभिमान है। 'सूर–साहित्य' पुस्तक में हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं, ''राधिका का प्रेम उन्हें पूर्णता तक पहुँचाने के लिए है, बोझ होने के लिए नहीं। यदि उन्हें जरूरत होगी, वे खुद आयेंगे। पर राधिका अपने एकान्त–रक्षित प्रेम निधि को सहज ही नहीं खोल देगी। वे आवें, अगर उनमें कोई अपूर्णता रह गयी हो; वे न आवें, अगर वे अपने को पूर्ण समझते हों; राधिका का तो एक ही काम है प्रेम करना, विरह की आग में जलना और मिलन की आशा में जीना। वह स्वंय नहीं जायेंगी।''[52] सूर का प्रेम चित्रण अपने आप में अनूठा है। नारी में स्वाभिमान की भावना को लक्षित करते उनके पदों में तत्कालीन नारी का चित्रण होता

है। जो स्वाभिमानी है। उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। सूर की गोपियाँ निर्गुण योग में अपना मन रमाने को बिल्कुल तैयार नहीं है

जोग ठगौरी व्रज न बिकैहै।

मूरी के पातनि के बदलैं, कौ मुक्ताहल दैहै।

यह ब्यौपार तुम्हारौ ऊधौ, ऐसौं ही धर्‌यौ रैहै।

जिन पै तैं लै आए ऊधौ, तिनहिं के पेट समैहै।

दाख छाँड़ि कै कटुक निबौरी, को अपने मुख खैहै।

गुन करि मोही 'सूर' साँवरैं, को निरगुन निरबैहै।।[53]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 'त्रिवेणी' में कहते हैं, ''सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूपलिप्सा और साहचर्य दोनों का योग है। बाल क्रीड़ा के सखा–सखी आगे चलकर यौवन क्रीड़ा के सखा–सखी हो जाते हैं। गोपियों ने उद्धव से साफ कहा–लरिकाई को प्रेम कहौ अलि, कैसे छूटे? केवल एक साथ रहते–रहते दो प्राणियों में स्वभावतः प्रेम हो जाता है। कृष्ण एक तो बाल्यवस्था से ही गोपियों के बीच रहे, दूसरे सुंदरता में भी अद्वितीय थे अतः गोपियों के प्रेम का क्रमशः विकास दो प्राकृतिक शक्तियों के प्रभाव से होने के कारण बहुत ही स्वाभाविक प्रतीत होते है। बालक्रीड़ा इस प्रकार यौवन क्रीडा के रूप में परिणत होती गई है कि संधि का पता ही नहीं चलता।''[54] सूर ने प्रेम का स्वच्छंद चित्रण किया है। 'अनभै सांचा' पुस्तक में मैनेजर पाण्डेय सूर के प्रेम की विशेषता बताते हुए कहते हैं, ''सूर का प्रेम शास्त्र और लोक की रूढ़ियों से एकदम स्वतंत्र है। वह विधिनिषेध से मुक्त मानवीय मनोकामना का मूर्त रूप है। ऐसा प्रेम किसी रूढ़िबद्ध समाज में ऐसा प्रेम अधिक से अधिक एक आकांक्षा, कल्पना या सपना हो सकता है। प्रेम की स्वतंत्रता के लिए रूढ़िमुक्त समाज जरूरी है। सूर की विशेषता यह है कि उन्होंने स्वच्छंद समाज में स्वच्छंद प्रेम का चित्रण किया है। उस युग में ऐसे समाज और प्रेम का चित्रण तत्कालीन समाज की सीमाओं को लाँघकर स्वतंत्र प्रेम और प्रेम की मानवीय आकांक्षा के अनुकूल कल्पनालोक का सृजन है।''[50] सूर के प्रेम का स्वच्छंद

चित्रण किया है। किंतु प्रेम का चित्रण अश्लील नहीं है। सूर की गोपियाँ कृष्ण से उन्मुक्त प्रेम करती है और उनका ऐसा अगाध प्रेम हैं कि वह राजसत्ता को खारिज करती हैं।

भारतीय संस्कृति की मान्यताओं में मैनेजर पाण्डेय कहते हैं, ''भारतीय संस्कृति में संयुक्त परिवार समाज व्यवस्था की एक अत्यंत आवश्यक इकाई है। बालक परिवार में सृष्टि के विकासक्रम की एक नई कडी है। भारत के प्राचीन सामाजिक दार्शनिकों ने धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टियों से संतान की महत्ता प्रतिपादित की है। बालक माता–पिता के दांपत्य प्रेम का फल है। माता–पिता के पारस्परिक अस्तित्वबोध और अस्तित्वविलयन के फलस्वरूप नवीन सत्ता का अभ्युदय संतान के रूप में होता है, इसलिए जीवन को समग्रता से ग्रहण करने वाले कवि या कलाकार के लिए वात्सल्य भाव की अनुभूति और अभिव्यक्ति आवश्यक है।''[51] रामस्वरूप चतुर्वेदी अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' में कहते हैं, ''जीवन के प्रति अनुराग जगाना परिवार के भावात्मक आकर्षणों का उद्‌घाटन करके ही संभव था। और यही सूरदास ने किया है। फिर यह पारिवारिकता, गृहस्थ जीवन और गोचारण का वातावरण मिल कर कृष्ण तथा राधा के प्रणय–जीवन का अनिवार्य संदर्भ बनते हैं।''[52] सूरदास के पदों में पारिवारिक एवं सामाजिक पदों की बहुलता मिलती है। सूर में पारिवारिक जीवन की प्रामाणिकता और रसमयता बढ़ाने वाला एक तत्व और है–गोपालन, जिसमें कृष्ण होते हैं गोपाल, आगे चलकर दुहरे अर्थ में। बालक और गाय गृहस्थ जीवन के दो अनिवार्य अंग हैं, भावात्मक और व्यावहारिक इन दोनों स्तरों पर पारिवारिक जीवन और गोचारण संस्कृति का चित्रण मिलता है।

सूर के यहाँ निर्गुण उपासना का विरोध मिलता है। हरबंसलाल शर्मा के अनुसार, ''निर्गुण उपासना से सूरदास का मतलब शायद कबीरदास आदि की साधना से है। सूरदास इसको भी सगुण उपासना के सामने फीका समझते हैं। इन निर्गुण उपासना के साधकों का कहना था कि त्रिगुणात्मक वेष त्याग करके पूर्ण ब्रह्म का ध्यान करो। भगवान् का न तो नाम है, न रूप। उनका कुल भी नहीं, वर्ण भी नहीं। न कोई माता–पिता है, न कोई स्त्री है। वे त्रिगुणातीत है। यह संसार मिथ्या है। ईश्वर को सुख भी नहीं होता और दुःख भी नहीं। आत्मा ही ब्रह्म है, वह घट–घट व्यापक है। भगवान् अविगत हैं, अविनाशी हैं, पूर्ण

हैं–इस निर्गुण ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती।''[53] सूरदास ने गोपियों के माध्यम से इसका घोर विरोध किया है। सूरदास सगुण उपासना की सरलता का प्रचार और योग का विरोध करते है।

निरगुन कौन देस कौ वासी?

मधुकर, कहि समुझाइ सौंह दै, बूझतिँ साँच, न हाँसि।

को है जनक, कौन है जननी, कौन नारि, को दासी।

कैसे बरन, भेष है कैसौ, किहिँ रस मैं अभिलाषी।

पावैगौ पुनि कियौ आपनौ, जो रे करैगौ गाँसी।

सुनत मौन ह्वै रहह्यौ बावरौ, 'सूर' सबै मति नासी।[54]

सूरदास के काव्य में किसान जीवन के यथार्थ का चित्रण किया गया है। 'भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य सूरदास' पुस्तक में मैनेजर पाण्डेय कहते हैं, ''सूर के काव्य में जिस किसान जीवन का चित्रण है, उसका एक विशेष सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भ है। वह संदर्भ सामंती व्यवस्था का है, जिसके भीतर किसान जीवन के अनुभवों का स्वरूप बना है। सूर की विशेषता यह है कि उन्होंने सामंती व्यवस्था के संदर्भ के साथ किसान जीवन के अनुभवों का चित्रण किया है। उसमें सामंती व्यवस्था के अत्याचार और किसानों की यातना को मूर्त और इंद्रियग्राह्य बनाने के लिए रूपक का सहारा लिया गया है। एक रूपक में किसानों की निर्धनता के कारण लगान देने में असमर्थता, सामंतों की लूट और उनके कपटी कर्मचारियों के अनाचार का वर्णन किया है।''[55] सूर ने ग्रामीण जीवन के विविध पक्षों को उठाया है। तत्कालीन ग्रामीण जीवन के पिछडेपन के मूल में तत्कालीन दरबारी संस्कृति का आकर्षण था जिस पर सूर ने जमकर प्रहार किया है। तत्कालीन सामंती व्यवस्था का चित्रण है। स्त्रियों की स्वतंत्रता का चित्रण मिलता है।

राजमोला बोरा पुस्तक 'भारतीय भक्ति साहित्य' में कहते हैं, ''व्यक्ति रूप में श्रीकृष्ण जितने महान हैं उसकी थाह पाना परम ज्ञानियों के लिए भी कठिन है किंतु सूर ने ऐसे पुरुषोत्तम को सभी प्रकार के मानवीय व्यवहार करते दिखलाए हैं। वह शिशु रूप, बालरूप, किशोर रूप में हम सबका रंजन करते हैं और उनके साहचर्य के कारण सबको सुख प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण को ब्रह्म सनातन मानें (माना गया है) तो वे ब्रह्म सनातन व्यक्ति रूप में इतने ऊँचे हैं कि उनकी अनुभूति के लिए (रहस्यात्मक अनुभूति के लिए) उनके सदृश होना पड़ेगा। ऐसा समाज में सब व्यक्तियों के लिए कठिन है। अतः प्रभु स्वयं समाज से जुड़ने के लिए समाज के सामान्य स्तर तक उतर आए हैं। व्यक्ति का इस स्तर से समाज से जुड़ना समाज के कल्याण के लिए है। इस जुड़ने में उनके मानवीय व्यवहारों को लीला कहा गया है। प्रभु हम सबकी तरह व्यवहार करें, तो वह सब लीला है।''[56] सूर के काव्य में आध्यात्मिकता आदि से अंत तक केंद्र में होने के बावजूद उनका व्यक्तित्व सामप्रदायिक नहीं कहा जा सकता। सूर न तो धर्म प्रवर्तक थे और न ही धर्म प्रचारक। वे केवल और केवल कृष्ण थे और साम्प्रदायिकता की भावना से अछूते थे।

5.6 पेरियाल्वार एवं सूरदास की काव्य शैली

डॉ. पी. जयरामन आल्वार काव्य की छंद एवं संगीत योजना के विषय में कहते हैं, ''आलवार काव्य में शास्त्रीय तथा लोक संगीत की विभिन्न शैलियों तथा लय–ताल संयुक्त राग–रागनियों का भी समावेश हुआ है जिससे अभिव्यक्ति प्रभावोत्पादक, लोकरंजक, मार्मिक तथा भावानुकूल हो सकी है। आलवार काव्य में भैरवी, सहाना, भूपाल, धनाश्री, टोड़ी, आसावारी आदि राग–रागिनियों, आदि ताल, रूपक ताल, त्रिपुट ताल आदि तालों तथा लोरी गीत (तालाट्टु), चंद्र निमंत्रण गीत (अम्बुलि पाट्टु) आदि बालजीवन से संबंधित विभिन्न लोकगीत शैलियों का प्रयोग हुआ है। साथ ही, इन संगीतमय पदों में काव्य–शास्त्रीय छंदों का भी पालन किया गया है।''[57]

भाषा और भाव की दृष्टि से सूरदास अत्यंत उच्च कोटि के कवि हैं। उन्होंने ब्रज भाषा में मुक्त काव्य और गीतितत्त्व के सहारे कृष्ण काव्य की एक विशेष परम्परा को जन्म दिया। वास्तव में ब्रज भाषा को साहित्यिक रूप सूरदास ने ही दिया। सूरदास की रचना में माधुर्य गुण की प्रधानता है। उन्होंने मानव हृदय के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म भावों का विलक्षण चित्रण किया है। सूरदास के काव्य में प्रेम और वात्सल्य दोनों समान रूप से उपस्थित है। प्रकृति और उसका सौन्दर्य काव्य में प्रमुख है। उन्होंने भावों को स्पष्ट करने के लिए और उन्हें शक्ति प्रदान करने के लिए रसों और अलंकारों का प्रयोग किया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, दृष्टान्त, लोकोक्ति, अतिश्योक्ति, रूपक आदि अलंकारों का सुंदर प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त सूरदास ने रूपमाला, गीतिका, विष्णुपद, सरसी, सार, वीर, लावनी, चंद्र, हरिप्रिया, हंसाल, मत, सवैया, सुखदा, कुण्डल आदि छंदों का भी प्रयोग किया है। लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं, ''सूर ने बहुत नहीं कहा, किंतु, जो कुछ कहा है उसे चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। उन्होंने काव्य के लगभग सभी सिद्धांतों का अत्यंत कौशल के साथा पालन किया है। श्रृंगार के सुंदर निरूपण के अतिरिक्त उनकी रचना में शांत के साथ–साथ हास्य और करुण रस भी मिलते है। साथ ही विरह की एकादश दशाएं भी मिलती है।''[58] सूर–साहित्य में उच्चकोटि की संगीतात्मकता के दर्शन होते हैं। काव्य में अलंकारों का प्रयोग भी बड़े सहज रूप में हुआ है। यद्यपि उपमा, रूपक, अलंकारों का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है, किंतु उसमें कृत्रिमता या दुरूहता कहीं दिखाई नहीं देती।

निष्कर्षः कहा जा सकता है। आल्वार संत पेरियाल्वार की वही परिपाटी नहीं रही है, जो सूरदास के काव्य में है। सूरदास सामाजिक व्यवस्था के प्रति अधिक जागरूक दिखाई पड़ते हैं। आल्वार संतों एवं अष्टछाप कवियों की काव्यशास्त्रीय परम्परा से चले आने वाले छन्दों का अपनी–अपनी रचनाओं में प्रयोग किया है। चूंकि ये छंद हर भाषा के अलग–अलग होते हैं और उनमें समानता की कोई संभावना नहीं होती। अतः उन पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने का कोई औचित्य नहीं है। आल्वार संत और अष्टछाप कवि दोनों के काव्य में संगीतबद्धता और गेयता है।

संदर्भ सूची–

1. (प्रस्तुतकर्ता) डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड–5, प्रथम सं. 2012, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002, पृ.–19.
2. मु. वरदराजन; तमिल साहित्य का इतिहास, अनुवादकः एम.शेषन्, तमिल साहित्य का इतिहास, प्रथम सं. 1994, साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली–110001, पृ.–120.
3. सूरसागर सटीक, खण्ड–1, संपादन एवं अनुवाद हरदेव बाहरी, राजेन्द्र कुमार, सं. 2010, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पृ.–2.
4. (प्रस्तुतकर्ता) डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड–5, प्रथम सं. 2012, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002, पृ.–20.
5. वही, पृ.–20.
6. वही, पृ.–35.
7. वही, पृ.–35.
8. सूरसागर, टीकाकार डॉ. किशोरीलाल गुप्त, खण्ड–1, सं. 2005, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पृ.–164
9. पेरियाल्वार तिरुमोलि (संत विष्णुचित्त) की रचनाएं,(अनुवादक) पंडित श्रीनिवास राघवन, दिव्य प्रबंध (आल्वारों की वाणियाँ), सं. 1980, हिंदी भवन, विश्वभारती शांति निकेतन, पश्चिम बंगाल, पृ.–45.
10. वही, पृ.–29.
11. सूरसागर, टीकाकार डॉ. किशोरीलाल गुप्त, खण्ड–1, सं. 2005, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पृ.–180.
12. पेरियाल्वार तिरुमोलि (संत विष्णुचित्त) की रचनाएं,(अनुवादक) पंडित श्रीनिवास राघवन, दिव्य प्रबंध (आल्वारों की वाणियाँ), सं. 1980, हिंदी भवन, विश्वभारती शांति निकेतन, पश्चिम बंगाल, पृ.–26.
13. वही, पृ.–23.
14. सूरसागर, टीकाकार डॉ. किशोरीलाल गुप्त, खण्ड–1, सं. 2005, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पृ.–234.
15. सूरसागर, टीकाकार डॉ. किशोरीलाल गुप्त, खण्ड–1, सं. 2005, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पद संख्या 395, पृ. –232.

16. सूरसागर, टीकाकार डॉ. किशोरीलाल गुप्त, खण्ड–2, सं. 2005, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पद संख्या 1442, पृ. –189–190.
17. एन. सुंदरम्; दिव्य प्रबंधम्, प्रथम सं. 2004, साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली–110001, पृ.–109
18. वही, पृ.–110
19. (प्रस्तुतकर्ता) डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड–5, प्रथम सं. 2012, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002, पृ.–263.
20. वही, 263.
21. पेरियाल्वार तिरुमोलि (संत विष्णुचित्त) की रचनाएं,(अनुवादक) पंडित श्रीनिवास राघवन, दिव्य प्रबंध (आल्वारों की वाणियाँ), सं. 1980, हिंदी भवन, विश्वभारती शांति निकेतन, पश्चिम बंगाल, पद संख्या 323, पृ.–82.
22. वही, पृ.–86.
23. सूरसागर, टीकाकार डॉ किशोरीलाल गुप्त, खण्ड–3, सं. 2005, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पद संख्या 586, पृ. –437–438.
24. वही, 438.
25. सूरसागर, टीकाकार डॉ. किशोरीलाल गुप्त, खण्ड–1, सं. 2005, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पद संख्या 570, पृ. –325.
26. (प्रस्तुतकर्ता) डॉ. पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड–5, प्रथम सं. 2012, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002, पृ.–247.
27. वही, पृ.–247.
28. पेरियाल्वार तिरुमोलि (संत विष्णुचित्त) की रचनाएं,(अनुवादक) पंडित श्रीनिवास राघवन, दिव्य प्रबंध (आल्वारों की वाणियाँ), सं. 1980, हिंदी भवन, विश्वभारती शांति निकेतन, पश्चिम बंगाल, पद संख्या 323, पृ.–149.
29. वही, पृ.–150.
30. वही, पृ.–151.
31. सूरसागर, टीकाकार डॉ किशोरीलाल गुप्त, खण्ड–3, सं. 2005, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पद संख्या 247, पृ. –221.
32. वही, पृ.–221.

33. पेरियाल्वार तिरुमोलि (संत विष्णुचित्त) की रचनाएं,(अनुवादक) पंडित श्रीनिवास राघवन, दिव्य प्रबंध (आल्वारों की वाणियाँ), सं. 1980, हिंदी भवन, विश्वभारती शांति निकेतन, पश्चिम बंगाल, पद संख्या 323, पृ.–255
34. वही, पृ.–157.
35. सूरसागर, टीकाकार डॉ किशोरीलाल गुप्त, खण्ड–3, सं. 2005, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़ग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पृ.–262.
36. वही, पद संख्या 342, पृ.–281.
37. वही, पृ.–281.
38. (प्रस्तुतकर्ता) डॉ पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड–5, प्रथम सं. 2012, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002, पृ.–303.
39. वही, पृ.– 303.
40. वही, पृ.–307.
41. वही, पृ.–307.
42. वही, पृ.–311.
43. वही, पृ.–311.
44. वही, पृ.–311.
45. वही, पृ.–364.
46. वही, पृ.–364.
47. वही, पृ.–378.
48. वही, पृ.–378.
49. सं• हरबंसलाल शर्मा; सूरदास, दूसरा सं. 2011, राधाकृष्ण प्रकाशन, 7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली–110002, पृ.–234.
50. सूरसागर, टीकाकार डॉ किशोरीलाल गुप्त, खण्ड–2, सं. 2005, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़ग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पद संख्या 1540, पृ. –238.
51. डॉ प्रेमशंकर; भक्तिकाव्य का समाजदर्शन, द्वितीय सं. 2007, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002, पृ.–140.
52. सूरसागर, टीकाकार डॉ किशोरीलाल गुप्त, खण्ड–2, सं. 2005, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़ग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पद संख्या 1448, पृ. –193.

53. आचार्य रामचंद्र शुक्ल (भूमिकाः रामकिशोर शर्मा), त्रिवेणी, लोकभारती प्रकाशन, 15 ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पृ.–55.
54. हजारी प्रसाद द्विवेदी; सूर–साहित्य, तीसरा सं. 1989, तीसरी आवृति 2013, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002., पृ.–89.
55. सूरसागर, टीकाकार डॉ किशोरीलाल गुप्त, खण्ड–2, सं. 2005, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पद संख्या 1960, पृ. –397.
56. आचार्य रामचंद्र शुक्ल (भूमिकाः रामकिशोर शर्मा); त्रिवेणी, लोकभारती प्रकाशन, 15 ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पृ.–59.
57. मैनेजर पाण्डेय; अनभै साँचा, प्रथम सं. 2002, पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8 दरियागंज, नई दिल्ली–110002, पृ.–20.
58. मैनेजर पाण्डेय; भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, सं. 1993, आवृति सं. 2012, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002, पृ.–168.
59. रामस्वरूप चतुर्वेदी; हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, प्रथम सं. 1986, तेइसवां सं. 2012, पृ.–45.
60. सं• हरबंसलाल शर्मा; सूरदास, दूसरा सं. 2011, राधाकृष्ण प्रकाशन, 7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली–110002, पृ.–32–33.
61. मैनेजर पाण्डेय; भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, सं. 1993, आवृति सं. 2012, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002, पृ.–296.
62. सूरसागर, टीकाकार डॉ किशोरीलाल गुप्त, खण्ड–2, सं. 2005, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पद संख्या 1830, पृ. –383.
63. राजमल बोरा; भारतीय भक्ति साहित्य, सं. 1994, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002, पृ.–123.
64. डॉ पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, प्रथम सं. 2003, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002, पृ.–689.
65. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; हिंदी साहित्य का इतिहास, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–211001, पृ.–161–162.

उपसंहार

भारत की सांस्कृतिक परंपरा का सुदीर्घ अतीत रहा है। यह परंपरा प्रत्येक युग में अपने जीवन्त स्वरूप को सुरक्षित रखती रही है। जीवन दर्शन का मुख्य आधार ही 'संस्कृति' है। मानव के ज्ञान और क्रिया शक्ति में जैसे जैसे विकास होता है, वैसे वैसे संस्कृति का भी विकास होता है। साहित्य, दर्शन, धर्म, विज्ञान, कला, राज्य, शासन आदि क्षेत्रों का साथ–साथ अध्ययन ही इस विकास प्रक्रिया को स्पष्ट करता है। साहित्य मानव–जीवन तथा मानव–समाज की सर्वांगीण व्याख्या का एक सशक्त माध्यम है। इसी कारण उसमें संस्कृति की अभिव्यक्ति भी हुआ करती है। आजकल के साहित्य में निरे यथार्थ का चित्रण प्रस्तुत कर, जीवन से साहित्य की ओर ले चलने की जो प्रवृत्ति पायी जाती है, उसमें आल्वार संतों तथा अष्टछाप कवियों का काव्य मानव जीवन में भक्ति की आवश्यकता का संदेश देता है। भक्ति काव्य का प्रभाव वर्तमान साहित्य की भांति क्षणिक न होकर शाश्वत बना रहता है। भारतीय जन–जीवन आज जिन अनेक धाराओं के मध्य प्रवाहित होता दिखाई पड़ता है, उनका मूल उद्‌गम लोक संस्कृति है। कृत्रिमता के वातावरण से दूर लोक संस्कृति अपने जिस आकर्षक रूप को लेकर जी रही है, शिष्ट संस्कृति उस सौंदर्यानुभूति का संस्पर्श भी नहीं कर सकती। जहाँ तक हमारे देश का संबंध है, धर्म और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में उल्लेखनीय परिवर्तन दृष्टिगोचर होते रहे हैं तथा इनका विकास होता रहा है। यद्यपि कभी–कभी राजनैतिक एवं बाह्य कारणों से उसके स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ है।

'भक्ति द्रविड उपजी' इस कथन को चरित्रार्थ करने वाले आल्वार संतों के यहाँ कृष्ण के मंगल की कामना की गई है। यह घटना 5वीं से 9वीं शताब्दी की है। जब भक्ति काल देवता को मनुष्य बनाने में लगा हुआ था। दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन के उद्‌भव के कारणों में इस्लाम की कोई भूमिका नहीं हैं, उससे कोई विरोध ही नहीं है। विरोध तो शंकराचार्य की दार्शनिक परंपरा से है। अगर कोई सांस्कृतिक आंदोलन खड़ा हुआ, तो वह बिना किसी राजनैतिक आंदोलन की शरण लिए नहीं खड़ा हो सकता। विचारधारा के लिए उस समय मार्क्सवाद नहीं था, पूंजीवाद नहीं था। विचारधारा के रूप में वहाँ धर्म था। बौद्ध

धर्म की तब प्रगतिशील भूमिका थी। बौद्ध धर्म की दार्शनिक मान्यताओं से प्रचलित युग धर्म को समस्या थी। सवर्ण समाज की सत्ता गायब हो रही थी। बुद्ध ने उसकी जड़ों को हिलाकर रख दिया था। जो दास थे, बुद्ध की शरण में जाकर समानता को प्राप्त कर रहे थे। बुद्ध ने सारी चीजों को संशय में डाल दिया । इस देश में जन्म लेने वाला धर्म, भारत का सबसे महान शासक तक उस धर्म को अंगीकार करता है। उसके लिए विदेशों तक लोगों को भेजता है। वह धर्म बर्मा में पाया जाता है, तिब्बत में पाया जाता है, श्रीलंका में पाया जाता है, चीन में पाया जाता है, कम्बोडिया में पाया जाता है, किंतु भारत से वह धर्म एकदम गायब हो जाता है। ब्राह्मणवादी विचारधारा बौद्धों को उन्हीं की पद्धति से धराशायी कर देती है।

किसी भी दार्शनिक विचारधारा को समझने के लिए उसकी सामाजिक संरचना का ज्ञान महत्त्वपूर्ण है। दर्शन के साथ–साथ सामाजिक ताने–बाने का कोई भी दार्शनिक चिंतन वहाँ की सामाजिक परंपरा के अनुरूप ही पनपता है। सुवीरा जायसवाल देवताओं की आवाजाही के विषय में व्याख्या करती हैं। जो देवता कभी असुरों के देवता हुआ करते थे, उनकी वैदिक देवताओं में गिनती होने लगी। सोम देव तो हैं, किंतु उनकी प्रवृत्ति आसुरी है, इसी तरह देवताओं का निर्धारण होता रहा है। शैव और वैष्णव परम्परा में, शिव की जो आराधना वैष्णव करते हैं, वो आर्य परंपरा के शिव हो सकते हैं। द्रविड़ परम्परा के शिव बिल्कुल अलग हैं, वह गरल शिव हैं, विषाक्त शिव हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शक्ति के नियंता विष्णु है। वह अवतार धारण करते हैं। उनके दशावतारों का उल्लेख होता है। विष्णु, शिव से अलग हैं। शिव और विष्णु का द्वंद है। इनकी उपासना करने वालों में मतभेद है। एक तो विष्णु को मानते हैं और दूसरा शिव को मानते हैं। भक्ति आंदोलन की उपज का मुख्य दार्शनिक आधार शैव दर्शन है, लेकिन जब यह सांस्कृतिक रूप ग्रहण करता है या दार्शनिक रूप ग्रहण करता है, तब उसका कायांतरण या रूपांतरण वैष्णव में हो जाता है। राम और कृष्ण, देवता उभरते है। राम की मर्यादित छवि का चित्रण होता है। कृष्ण लोकरंजक देवता के रूप में सामने आते है। यह लोक के हृदय पर अनूठी सत्ता कायम करते है। सूर के शब्दों में 'अब कैसेहु निकसत नहीं ऊधौ, तिरछे ह्वै जो अडे' गोपियों की भांति, यही स्थिति आल्वार संतों की है।

भारतीय भक्ति आंदोलन का इतिहास अत्यंत व्यापक है। भारत की भावात्मक एकता को सुदृढ़ बनाये रखने में भक्ति का प्रमुख हाथ है। भारतीय भक्ति भावना के विकास में उत्तर, दक्षिण, पूर्व एवं पश्चिम के विभिन्न भक्त कवियों ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है। जिस समय उत्तर भारत में वेद, उपनिषद् आदि से प्रभावित वैदिक धारा प्रवाहित हो रही थी। उसी समय दक्षिण में, द्रविड़ संस्कृति में पोषित तमिल भक्ति धारा विकास पा रही थी। वैदिक काल से चली आती हुई भक्ति की धारा, जैन, बौद्ध आदि नास्तिक मतों के प्रभाव से क्षीण होकर, ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में दक्षिण पहुँची। जब यह मान लिया जाता है, कि संसार परिवर्तनशीन है, यह प्रतिक्षण बदलता है, जन्म है तो मृत्यु अवश्य होगी। तब एक निराशावादी भाव अंतःकरण में उत्पन्न होता है। इसी निराशावादी अवधारणा की प्रतिक्रिया स्वरूप कालान्तर में भक्ति की धारा, जिसने सामान्य जन के मन में आशा का संचार किया, तमिल प्रान्त के वैष्णव भक्त कवियों 'आल्वारों' के मधुर पदों में अपनी पूर्ण शक्ति के साथ प्रकट हुई। आल्वारों ने दक्षिण प्रदेश में घूम–घूम कर भक्ति गीत गाए। ये निर्विवाद सत्य है कि इन भावुक भक्त कवियों ने अपने पद–साहित्य से तत्कालीन जनता को मानसिक शांति प्रदान कर भक्ति रस का आस्वादन कराया। साथ ही, उत्तर भारत में छः शताब्दियों पश्चात् उभरने वाले भक्ति आंदोलन को तथ्य प्रदान किये।

भक्ति की यह धारा वैदिक युग से ही प्रवाहित मानी जाती है। भक्ति के उद्‌भव और विकास के विषय में विद्वानों के मत–मतांतर होने पर भी। इतना अवश्य मानना पडेगा कि भारतीय भक्ति साधना के क्रमिक विकास में तमिल भाषा और तमिल प्रदेश का महत्त्वपूर्ण योग है। तमिलों की धार्मिक भावना विकास को पाकर ईसा पूर्व अनेक शताब्दियों से एक सुदृढ़ भक्ति परंपरा का रूप धारण कर चुकी थी। आज भारतीय भक्ति साहित्य में वैष्णव भक्ति का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, वह बहुत कुछ आल्वारों की देन है। आल्वारों का ही प्रभाव विभिन्न आचार्यों के माध्यम से हिंदी प्रदेश तक पहुँचा।

कृष्ण के जिस रूप की अष्टछाप के कवियों ने प्रतिष्ठा की है। वह रसिक शिरोमणि विष्णु रूप है। जबकि आल्वारों के कृष्ण परब्रह्म का स्वरूप है। उत्तरी शाखा के अनुसार ईश्वर की कृपा प्रयत्न से ही प्राप्त हो सकती है, परंतु दक्षिण शाखा उसे अप्रयत्नज मानती है। इस

सैद्धांतिक भेद के कारण ही भक्ति ज्ञान और कर्म–तत्त्व से प्रभावित हुई। मार्जार और मर्कट न्याय के आधार पर दक्षिण और उत्तरी भक्ति शाखा का स्वरूप मिलता है। आल्वार संतों एवं अष्टछाप कवियों के अस्तित्व के मध्य कई शताब्दियों का अंतराल होने पर भी उन दोनों के उद्देश्य, कार्य क्षेत्र एवं प्रचार माध्यमों प्रधानतः पद साहित्य में स्पष्ट समानता मिलती है।

कृष्ण का दार्शनिक विवेचन जितना पेरियाल्वार ने किया है उतना सूरदास ने नहीं। उनके बालकृष्ण जग का कल्याण करते हैं। पेरियाल्वार और सूरदास ने बालकृष्ण की विभिन्न चेष्टाओं का सरस और सजीव वर्णन करके तमिल और हिंदी साहित्य में वात्सल्य रस की अमर धारा प्रवाहित की है। पेरियाल्वार के प्रबंधम् 'पेरियाल्वार तिरुमोलि' और सूरदास के 'सूरसागर' में दक्षिण और उत्तर संस्कृति की छाप मिलती है। सूरदास ने यह अनुभव कराया है कि कृष्ण हम सबके बीच है और वह जन जन के हैं और हमारे सुख–दुख में हमारे साथ है। पेरियाल्वार यह कामना करते हैं कि कृष्ण को किसी प्रकार का दुख न हो। सूर ने अपने कृष्ण को सखा के रूप में देखा है और पेरियाल्वार अपने कृष्ण को पुत्र के रूप में देखते हैं तथा स्वयं को उनकी माता के रूप में प्रस्तुत करते हैं। सूरदास की सौंदर्य चेतना अत्यंत सजग और भाव प्रधान है। इन्होंने मानवीय सौंदर्य तथा प्राकृतिक सौंदर्य का अद्भुत चित्रण है।

कथाओं और आख्यानों को गीति शैली में ढ़ालने का श्रेय आल्वारों में तो सबसे अधिक पेरियाल्वार को और अष्टछापियों में प्रमुख रूप से सूरदास को है। पेरियाल्वर के वात्सल्य वर्णन में अद्भुत प्रतिभा के दर्शन होते हैं। उन्होंने कृष्ण की बाल लीला, गोदोहन, गोचारण, गोवर्द्धन धारण, नाग लीला, रास लीला जैसे प्रसंगों का सुंदर और वर्णनात्मक चित्रण करने के साथ तथा राम लीला का भी गायन किया है। इसी प्रकार सूरदास ने श्रीमद्भागवत के प्रसंगों का आख्यानात्मक वर्णन प्रस्तुत किया है। सूर की मानसिक स्थिति सदा कृष्ण के लीला पदों का गायन करने में संतुष्ट रही है। पेरियाल्वार ने लीला वर्णन के प्रत्येक पद के अंतिम चरण या अंतिम दो चरणों में कृष्ण के परमेश्वरत्व का उल्लेख किया है। आल्वार को कृष्ण की आलौकिकता एवं सर्वभौमिकता भाति थी। अष्टछाप कवियों में सूरदास का सामूहिक उल्लास के चित्रण अद्भुत है और आल्वारों में पेरियाल्वार का।

आल्वारों के भक्ति काव्य में समाज का वर्णन मिलता है। आल्वारों ने वैष्णव भक्ति का प्रचार घूम–घूम कर किया, जिससे धार्मिक और सामाजिक जीवन प्रभावित हुआ। मंदिर निर्माण और मूर्ति पूजा तमिल प्रदेश की प्राचीन धार्मिक देन थी। आल्वारों ने संगीत–कला को महत्त्वपूर्ण भेंट दी। धार्मिक अवसरों पर आल्वारों के पदों का गायन होता है। विभिन्न राग–रागनियों में गाने योग्य आल्वारों के कीर्तनों ने जनता पर अमिट प्रभाव डाला है। आल्वारों की भक्ति ऐसी भक्ति थी जिसने ब्राह्मण धर्म को हिंदू धर्म में परिवर्तित कर दिया। अतः यह दक्षिण भारत की महत्त्वपूर्ण देन मानी जा सकती है।

वर्तमान समय में देश में धार्मिक, जातिगत, भाषागत आदि अनेक समस्याएं उठ खड़ी हुई है। जो विदेशी तथा देशी संकुचित विचार और कूटनीति का परिणाम है। अन्य कारण यह भी हो सकता है कि भारत के अंगभूत अन्यान्य प्रान्तों के नागरिको में अपरिचित जन्य अविश्वास, संदेह, कुण्ठा आदि है, जो एक को अनेक में बांट कर ईर्ष्या, द्वेष का शिकार बनाते हैं। देश की वर्तमान परिस्थितियों की दृष्टि से इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन की नितांत आवश्यकता है। आधुनिक युग में एक ही भाषा तथा उनके साहित्य का अध्ययन करने से भारत की मूलभूत एकता प्रतिभाषित नहीं होती। एक साहित्य का दूसरे साहित्य के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से भारत की भावात्मक एकता का सम्यक परिचय होता है।

आल्वार संत और अष्टछाप कवि, दोनों शैली के ये भक्त, महापुरुष, आशु कवि, कुशल संगीतज्ञ एवं अनन्य साधक थे। आल्वारों की भक्ति धारा ने अष्टछापियों की काव्य धारा को दिशा निर्दिष्ट कर प्रभावित किया है। ये भक्ति की साधना को एकमात्र लक्ष्य मानते हुए जनसाधारण का मानसिक क्लेश दूर कर परम शक्ति प्रदान करने के लिए अपने पद साहित्य का गायन किया करते थे। काव्य रचना इनका उद्‌देश्य नहीं था। वर्तमान में इनकी प्रासांगिकता का कारण है इनकी साधना पद्धति, काव्य रसिक, भक्त, विद्वान एवं साहित्यकार इनकी काव्य धारा का पठन–पाठन किया करते हैं। वर्तमान भाषा में हम इन भक्त कवियों को मनोचिकित्सक कह सकते हैं।

दोनों समूहों के भक्त कवियों ने धर्म से वर्ग विशेष का एकाधिकार समाप्त करने के लिए पर्याप्त परिश्रम किया। जाति, संप्रदाय, वर्ण तथा लिंग भेद के बिना समान्य जन के लिए भक्ति का द्वार उन्मुक्त कर दिया। इनकी रचनाओं के पठन–पाठन और गायन–श्रवण से भेद भावनाओं से परे मानव मन स्वस्थ बनता है तथा उसमें संपूर्ण अशुभ व अहित का न्यायोचित प्रतिरोध करने की शक्ति उत्पन्न होती है। सारांशतः कह सकते हैं कि इन कवि वृंदों का मूल संदेश है मानव मात्र की कल्याण साधना और सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठा करना। यह संदेश उनके रचना काल में जितना संभव रहा उससे कई गुना अधिक वर्तमान के लिए संगत व आवश्यक है।

पुस्तकानुक्रमणिका

आधार ग्रंथ सूची

1. (प्रस्तुतकर्ता) डॉ पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड–1, प्रथम सं. 2010, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002.
2. (प्रस्तुतकर्ता) डॉ पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड–2, प्रथम सं. 2010, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002.
3. (प्रस्तुतकर्ता) डॉ पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड–3, प्रथम सं. 2010, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002.
4. (प्रस्तुतकर्ता) डॉ पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड–4, प्रथम सं. 2010, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002.
5. (प्रस्तुतकर्ता) डॉ पी. जयरामन; संत वाणी, खण्ड–5, प्रथम सं. 2012, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002.
6. पेरियाल्वार तिरुमोलि (संत विष्णुचित्त) की रचनाएं,(अनुवादक) पंडित श्रीनिवास राघवन, दिव्य प्रबंध (आल्वारों की वाणियाँ), सं. 1980, हिंदी भवन, विश्वभारती शांति निकेतन, पश्चिम बंगाल
7. एन.सुंदरम;, दिव्य प्रबंधम्, प्रथम सं. 2004, साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली–110001.
8. (संकलनकर्ता) पा. वेंकटाचारी; तिरुप्पावै, आण्डाल–गोदा देवी, प्रथम सं. 1996, श्री मारूति लेसर प्रिंटर्स,174, पीटर्स रोड़, चैन्नई–600014.
9. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, मुद्रक व प्रकाशनः मे. खेमराज–श्रीकृष्णदास, सं. 1986, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई–4.
10. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (तीन जनम की लीला भावना सहित), खण्ड 1–खण्ड 3, सं. द्वारकादास पारिख, पूजा प्रकाशन, अहमदाबाद.
11. श्रीनाभादास कृत भक्तमाल, सं. 1957, मुद्रितः श्रीवेंकटेश्वर छापाखाना, मुम्बई.
12. प्रियादास कृत श्री भक्तमाल टीका– कवित्त (भक्तिसुधावाद तिलक सहित), सीतारामशरण भगवान प्रसाद रूपकला द्वारा प्रणीत.
13. राघवदास कृत भक्तमाल (चतुरदास कृत टीका सहित), सं. 1965, प्रकाशक–राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, राजस्थान.

14. (संपादक) प्रभुदयाल मित्तल; सूरसारावली, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, वि० संवत 2014
15. सूरसागर सटीक, संपादन एवं अनुवाद हरदेव बाहरी, राजेन्द्र कुमार, सं. 2010, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1.
16. सूरसागर (सटीक संस्करण), टीकाकार एवं संपादक भगवतीप्रसाद देवपुरा, सं. 2010 प्रकाशक– साहित्य मण्ड़ल, श्रीनाथद्वारा–313301.
17. सूरसागर, टीकाकार डॉ किशोरीलाल गुप्त, सं. 2005, खण्ड 1–खण्ड 5, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1.
18. डॉ. दीनदयालु गुप्त; अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (प्रथम भाग) सं. 1999, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 12, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद–211003.
19. डॉ. दीनदयालु गुप्त; अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (द्वितीय भाग) सं. 2000, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 12, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद–211003.
20. डॉ. हरगुलाल; अष्टछाप के कवि कृष्णदास, सं. 2001, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्पलेक्स, लोधी रोड़, नई दिल्ली–110003.
21. डॉ. हरगुलाल; अष्टछाप के कवि छीतस्वामी, सं. 2003, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्पलेक्स, लोधी रोड़, नई दिल्ली–110003.
22. डॉ. हरगुलाल; अष्टछाप के कवि गोविंदस्वामी, सं. 2003, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्पलेक्स, लोधी रोड़, नई दिल्ली–110003.
23. डॉ. हरगुलाल; अष्टछाप के कवि परमानंददास, सं. 2008, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्पलेक्स, लोधी रोड़, नई दिल्ली–110003.
24. डॉ. हरगुलाल; अष्टछाप के कवि कुंभनदास, सं. 2008, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्पलेक्स, लोधी रोड़, नई दिल्ली–110003.
25. डॉ. हरगुलाल; अष्टछाप के कवि चतुर्भुजदास, सं. 2009, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्पलेक्स, लोधी रोड़, नई दिल्ली–110003.

सहायक ग्रंथ सूची

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, सं 2010, अशोक प्रकाशन, 2615, दिल्ली–6.
2. डॉ. बच्चन सिंह; हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, पहला सं. 1996, चौथी आवृति 2012, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली–2.
3. डॉ. रामकुमार वर्मा; हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (संवत् 750–1750), आठवां सं. 2010, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद–1.
4. डॉ. पूरनचंद टण्ड़न, डॉ विनीता कुमारी; हिंदी साहित्य का इतिहास (आदिकाल से रीतिकाल तक), सं. 2010, जगतराम एण्ड़ सन्स, 24/4855, अंसारी रोड़, दरियागंज, नयी दिल्ली–2.
5. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, पहला सं. 1956, तीसरा सं. 2010, पुनर्मुद्रण 2012, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–211001.
6. सं. नलिन विलोचन शर्मा; भारतीय साहित्यः परिशीलन तथा अन्वेषण, सं. 1960, हिंदी साहित्य परिषद्, पटना कॉलेज, परिजात प्रकाशन, डाकबंगला रोड, पटना–1.
7. रामशरण शर्मा; भारत में आर्यों का आगमन, प्रथम सं. 1999, पुनर्मुद्रण 2003, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, बैरक नं. 2 एवं 4, केवेलरी लाइन, दिल्ली–110007.
8. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002.
9. रोमिला थापर; प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, अनुवादकः आदित्यनारायण सिंह, स.–2001, ग्रंथ शिल्पी प्रा. लि., जी–82, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092.
10. इब्ने हसन; मुगल साम्राज्य का केंद्रीय ढांचा, अनुवादकः कृपालचंद यादव, सं. –1997, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, जी–82, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092.
11. इरफ़ान हबीब; भारतीय इतिहास में मध्यकाल, संपादन और अनुवादः रमेश रावत, दूसरा सं. 2002, ग्रंथ शिल्पी प्रा. लि., जी–82, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092.
12. इरफान हबीब; मध्यकालीन भारत, अनुवादक लाडी, अंक–1 पहला सं. 1981, आठवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

13. इरफान हबीब; मध्यकालीन भारत, अनुवादक एन.सी. लोहानी, अंक–2 पहला सं. 1983, नौवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.
14. इरफान हबीब; मध्यकालीन भारत, अनुवादक एन.सी. लोहानी, अंक–3, आठवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.
15. इरफान हबीब; मध्यकालीन भारत, अनुवादक नरेश नदीम, अंक–4 पहला सं. 1992, पांचवी आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.
16. इरफान हबीब; मध्यकालीन भारत, अनुवादक नरेश नदीम, अंक–5 पहला सं. 1994, चौथी आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.
17. इरफान हबीब; मध्यकालीन भारत, अनुवादक नरेश नदीम, अंक–6 पहला सं. 1999, दूसरी आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.
18. इरफान हबीब; मध्यकालीन भारत, अनुवादक नरेश नदीम, अंक–7 पहला सं. 2000, दूसरी आवृति 2008, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.
19. इरफान हबीब; मध्यकालीन भारत, अनुवादक नरेश नदीम, अंक–8 पहला सं. 2003, पहली आवृति 2008, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.
20. इमत्याज़ अहमद; मध्यकालीन भारत (8वीं से 18वीं शताब्दी), सं. 1989, पुनमुर्द्रण 1997, नेशनल पब्लिकेशन्स, खजांची रोड, पटना.
21. डब्ल्यू.एच. मोरलैंड; अकबर से औरंगजेब तक, अनुवादकः के.के. त्रिवेदी, सं. 1997, ग्रंथ शिल्पी प्रा. लि., जी–82, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092.
22. डॉ. ताराचंद; भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव, अनुवादक : सुरेश मिश्र, सं. 2006, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, बी–7, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092.
23. डॉ. किशोरी लाल; मध्यकालीन काव्य पाठ एवं काव्य विवेचन, प्रथम सं. 1997, हिंदी बुक सेंटर, 4/5, आसफ अली रोड़, नई दिल्ली–110002.
24. डॉ. लक्ष्मीनारायण चातक; हिंदी साहित्य का इतिहास (आदिकाल से भक्तिकाल), कॉलेज बुक ड़ीपो, जयपुर.
25. रामविलास शर्मा; भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश, सं. 2012, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली–110001.
26. सं. ब्रजनारायण सिंह; मध्ययुगीन काव्य, सं. 1988, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002.
27. डॉ. रामचंद्र वर्मा; हिंदी साहित्य युग एवं प्रवृत्तियों का विकास, कला मंदिर, 1687, नई सड़क, दिल्ली–110006.
28. रामशरण शर्मा; पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, पहला सं. 1996, चौथी आवृति 2013, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली–110002.

29. रामशरण शर्मा; प्राचीन भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, प्रथम सं. 1992, द्वितीय सं. 1993, तृतीय संशोधित सं. 2008, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–110007.
30. डी. एन. झा; प्राचीन भारत का इतिहास विविध आयाम, प्रथम सं. 2014, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली–110007.
31. एच. लाल; भारत के आदिनिवासियों का इतिहास, खण्ड़–1, प्रथम खण्ड़ 1973, दूसरा सं. 2003, त्रिवेनी प्रकाशन, 1/4006, रामनगर विस्तार, शाहदरा, दिल्ली–110032.
32. पुरुषोत्तम नागेश ओक; भारतीय इतिहास की भयकंर भूलें, सं. 2011, हिंदी साहित्य सदन, 2 बी.डी.चैंबर्स, 10/54, देशबंधु गुप्ता रोड़, करोल बाग, नयी दिल्ली–110005.
33. डॉ. ईश्वरदत्त शील; हिंदी साहित्य का मध्यकाल, सं. 2013, गरिमा प्रकाशन, कानपुर
34. राजमल बोरा; भारतीय भक्ति साहित्य, सं. 1994, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002.
35. डॉ शैल प्रधान; भारतीय कला में वैष्णव परम्परा, प्रथम सं. 1992, नेशनल सेंटर फोर ओरियंटल स्टडीज, दिल्ली–110001.
36. डॉ. रामेश्वर दयाल; मध्ययुगीन कृष्ण भक्ति परम्परा और लोक संस्कृति (16 वीं–19वी शती), सं. 1975, पांडुलिपि प्रकाशन, कृष्णानगर, दिल्ली–110051.
37. दामोदर धर्मानंद कोसाम्बी; प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, अनुवादकः गुणाकार मुले, तीसरा संशोधित सं., राजकमल प्रकाशन,
38. सतीशचंद्र; मध्यकालीन भारत में इतिहास लेखन, धर्म और राज्य का स्वरूप, अनुवादकः एन.ए.खान 'शाहिद', सं.1999, पुनर्मुद्रण 2007, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, बी–7, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092.
39. सतीशचंद्र; मध्यकालीन भारत (सल्तनत से मुगलकाल तक) दिल्ली सल्तनत 1206–1526, प्रथम सं. 2000, पुनर्मुद्रण 2007, जवाहर पब्लिशर्स एंड़ डिस्ट्रीब्यूटर्स, 15, डी.डी.ए, मार्केट बेर सराय, नई दिल्ली–110016.
40. सतीशचंद्र; मध्यकालीन भारत (सल्तनत से मुगलकाल तक) दिल्ली सल्तनत 1526–1748, प्रथम सं. 2001, तृतीय सं. 2006, जवाहर पब्लिशर्स एंड़ डिस्ट्रीब्यूटर्स, 15, डी.डी.ए, मार्केट बेर सराय, नई दिल्ली–110016.
41. सतीश चन्द्र; मध्यकालीन भारत :राजनीति, समाज और संस्कृति (आठवीं से सत्रहवीं सदी तक), सं. 2007, ओरियंट लॉंग्मैन प्रा. लि., 1/24, आसफ अली रोड़, दिल्ली–110002.

42. रामस्वरूप चतुर्वेदी; हिंदी काव्य का इतिहास, सं. 2007, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–211001.
43. अलेक्जेंडर आई. चिचेरोव; मुगलकालीन भारत की आर्थिक संरचना (सोलहवीं से अठारहवीं सदी के मध्य व्यापार और दस्तकारी), अनुवाद : मंगलनाथ सिंह, प्रथम सं. 2003, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, बी–7, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092.
44. द्विजेंद्रनारायण झा; प्राचीन भारत : सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल, प्रथम सं. 2003, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, बी–7, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092.
45. डॉ. नगेन्द्र; हिंदी साहित्य का इतिहास, सं. 1973, अठाईसवां सं. 2001, मयूर पेपरबैक्स, ए–15, सेक्टर–5, नोएड़ा–201301.
46. विश्वनाथ त्रिपाठी; हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, प्रथम सं. 1986, ग्यारहवां सं. 2001, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली–110016.
47. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; हिंदी साहित्य का इतिहास, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–211001.
48. विजयेंद्र स्नातक; हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रथम सं. 2009, पुनर्मुद्रण 2012, साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली–110001.
49. हजारीप्रसाद द्विवेदी; हिंदी साहित्य की भूमिका, सं. 2012, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002.
50. गजानन माधव मुक्तिबोध; भारत इतिहास और संस्कृति, सं. 2009, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002.
51. गणपतिचंद्र गुप्त; साहित्यिक निबंध, बाईसवां सं. 2011, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1.
52. सं. डॉ झिनकू यादव; भारतीय समाज में दलित एवं कमजोर वर्ग की स्थिति, सं. 1993, राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान, भिनगाराज दण्डी सेवाश्रम, संकट मोचन, वाराणसी, उ.प्र.
53. डॉ. ममता गुप्ता; धर्मगाथा और जातीय संघर्ष, सं. 1998, राधारानी प्रकाशन, 29/61, गली नं. 11, विश्वास नगर, दिल्ली–110032.
54. सं• हरिश्चन्द्र वर्मा; मध्यकालीन भारत भाग–1(750ई.–1540ई.), तृतीय सं. 1997, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, मॉडल टाउन, दिल्ली–110009.
55. प्रशांत गौरव; पूर्व मध्यकालीन भारत, पहला सं. 2009, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002.

56. दामोदर धर्मानंद कोसंबी; मिथक और यथार्थ, अनुवादकः नंदकिशोर नवल, ग्रंथ शिल्पी प्रा. लि., जी–82, विजय चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092.
57. मोहम्मद हबीब; दिल्ली सल्तनत का राजनीतिक सिद्धांत, अनुवादः शीला मिश्र, ग्रंथ शिल्पी, बी–7, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092.
58. बी.एन. पाण्डे; भारतीय संस्कृति (मुगल विरासतः औरंगजेब के फरमान), सं. 1993, हिंदी अकादमी, 235–ए, पद्म नगर, किशनगंज, दिल्ली–110007.
59. ए.एल.बाशम; अद्भुत भारत, शिव, लाल अग्रवाल एण्ड़ कम्पनी, अस्पताल मार्ग, आगरा–3.
60. इब्नबतूता की भारत यात्रा या चौदहवीं शताब्दी का भारत, पहला सं. 1997, दसवीं आवृति 2014, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नेहरू भवन, 5–इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज–2, बसंत कुंज, नई दिल्ली–110070.
61. भारत अल–बरूनी; क़यामउद्दीन अहमद द्वारा भूमिका तथा टिप्पणियों सहित संपादित, अनुवाद नूर नबी अब्बासी, पहला सं. 1992, चौथी आवृति 2005, नेशनल बुक ट्रस्ट, ए–5, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली–110016.
62. श्यामचरण दुबे; भारतीय समाज, अनुवादकः वंदना मिश्र, सं. 1985, छठी आवृति 2014, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नेहरू भवन, 5–इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज–2, बसंत कुंज, नई दिल्ली–110070.
63. श्याम सिंह शशि; साहित्य और समाज, सं. 2015, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नेहरू भवन, 5–इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज–2, बसंत कुंज, नई दिल्ली–110070.
64. देवराज चानना; प्राचीन भारत में दास प्रथा, अनुवादकः डॉ शम्भुदत्त शर्मा, सं. 1989, पुनर्मुद्रण 2009, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, केवेलरी लाइन, दिल्ली–110007.
65. प्रियदर्शिनी विजयश्री; देवदासी या धार्मिक वेश्या?, अनुवादः विजय कुमार झा, सं. 2010, वाणी प्रकाशन, 4695, 21–ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002.
66. राजेन्द्र प्रसाद सिंह; हिंदी साहित्य का सबाल्टर्न इतिहास (सिद्ध साहित्य से संत साहित्य तक), सं. 2011, गौतम बुक सेंटर, सी 263ए, गली नं. 9, हरदेवपुरी, शाहदरा, दिल्ली–110093.
67. एस.आर.भट; प्राचीन भारत में जनजीवन, अनुवादकः डॉ प्रधान गुरूदत्त, द्वितीय सं. 2011, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 5 ई, रानी झांसी मार्ग, नई दिल्ली–110055.
68. सुवीरा जायसवाल; वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास, दूसरा सं. 1996, तीसरा सं. 2005, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, बी 7, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092.
69. मैनेजर पाण्डेय; भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, सं. 1993, आवृति सं. 2012, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002.

70. डॉ. प्रेमशंकर; भक्तिकाव्य का समाजदर्शन, द्वितीय सं. 2007, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002.
71. मैनेजर पाण्डेय; अनभै साँचा, प्रथम सं. 2002, पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8 दरियागंज, नई दिल्ली–110002.
72. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का आदिकाल, चतुर्थ सं. 1980, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना–800004.
73. देवीशंकर अवस्थी; भक्ति का संदर्भ, द्वितीय सं. 2005, , वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002.
74. विश्वनाथ शुक्ल; भक्ति मीमांसा, सं. 1980, विवेक पब्लिकेशन्स, अलीगढ़
75. राजीव रंजन गिरी; सामंती जमाने में भक्ति आंदोलन (अवसान और अर्थवत्ता), प्रथम सं. 2014, साहित्य उपक्रम, मुद्रणः अर्पित प्रिंटोग्राफर्स, दिल्ली–110032.
76. शिवकुमार मिश्र; भक्तिकाव्य और लोकजीवन, सं. 1983, पीपुल्स लिटरेसी, 517, मटिया महल, दिल्ली–110006.
77. डॉ. रतिभानु सिंह 'नाहर'; हिंदी साहित्य : एक ऐतिहासिक अध्ययन, सं. 1969, भारती भवन, एक्जिबीशन रोड़, पटना–1.
78. सं. कुँवरपाल सिंह; भक्ति आंदोलन : इतिहास और संस्कृति, तृतीय सं. 2008, , वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002.
79. रामविलास शर्मा; परंपरा का मूल्यांकन, दूसरा सं. 2011, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002.
80. रामविलास शर्मा; आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, पेपरबैक सं. 1993, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002.
81. रामविलास शर्मा; भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास, सं. 2001, साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली–110001.
82. जवाहरलाल नेहरू; हिन्दुस्तान की कहानी, सं. 2011, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, दिल्ली.
83. आचार्य रामचंद्र शुक्ल (भूमिकाः रामकिशोर शर्मा); त्रिवेणी, लोकभारती प्रकाशन, 15 ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1.
84. आचार्य रामचंद्र शुक्ल; चिन्तामणि, सं. 1939, हिंदी साहित्य सरोवर, आगरा.
85. सं. रामचंद्र शुक्ल; भ्रमरगीतसार, कला मंदिर, 1687, नई सड़क, दिल्ली–110006.
86. कृष्णदेव; उत्तर भारत के मंदिर, अनुवादक : ओमप्रकाश टंड़न, पहला सं. 1971, चौथी आवृति 2014, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नेहरू भवन, 5–इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज–2, बसंत कुंज, नई दिल्ली–110070.

87. विजयेन्द्र स्नातक; श्री वल्लभाचार्य, सं. 1992, तीसरी आवृति 2012, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नेहरू भवन, 5–इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज–2, बसंत कुंज, नई दिल्ली–110070.
88. डॉ. सेवा सिंह; भक्ति और जन, सं. 2005, गुरूनानक देव युनिवर्सिटी, अमृतसर–143005.
89. पं. रघुवीर सिंह शर्मा; वैष्णव धर्म एवम् दर्शन, सं. 1997, आभा प्रकाशन, 704, कटरा नील, नई बस्ती, चाँदनी चौक, दिल्ली–110006.
90. डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय; हिंदी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, सं. 2015, रचना प्रकाशन, 57, नाटाणी भवन, चांदपोल बाजार, जयपुर–302001.
91. डॉ. हिम्मत सिंह सिन्हा; संस्कृति दर्शन, सं. 1990, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़.
92. भगवत शरण उपाध्याय; भारतीय संस्कृति के स्रोत, सं. 2006, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055.
93. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1.
94. हरिदत्त वेदालंकार; भारत का सांस्कृतिक इतिहास, सं. 2008, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली.
95. रामजी उपाध्याय; भारतीय धर्म और संस्कृति, सं. 2012, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1.
96. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055.
97. श्री सतीशचंद्र चट्टोपाध्याय, श्री धीरेंद्र मोहन दत्त; सं. 1994, पुस्तक भंडार पब्लिशिंग हाउस, पटना–800004.
98. डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन्; भारतीय संस्कृति कुछ विचार, सं. 2012, राजपाल एण्ड़ सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली–110006.
99. विद्यानिवास मिश्र; भारतीय संस्कति के आधार, सं. 2010, प्रभात प्रकाशन, 4/19, आसफ अली रोड़, नई दिल्ली–110002.
100. एस. आबिद हुसैन; भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, अनुवादः दुर्गा शंकर शुक्ल, पहला सं. 1987, चौदहवीं आवृति 2014, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नेहरू भवन, 5–इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज–2, बसंत कुंज, नई दिल्ली–110070.
101. सच्चिदानंद सिन्हा; संस्कृति विमर्श, प्रथम सं. 2001, द्वितीय परिवर्द्धित सं. 2014, वाग्देवी प्रकाशन, विनायक शिखर पॉलिटेनिक कॉलेज के पास, बीकानेर–334003.

102. भगवान सिंह; भारतीय सभ्यता की निर्मिति, प्रथम सं. 2004, पुनर्मुद्रण 2007, साहित्य उपक्रम, मुद्रकः अर्पित प्रिंटोग्राफर्स, बी–7, सरस्वती कॉम्पलेक्स, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110002.
103. सोती वीरेन्द्र चन्द्र; भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, सं. 2010, राजपाल एण्ड़ सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली–110006.
104. सत्यकेतु विद्यालंकार; भारतीय संस्कृति का विकास, सं. 1994, पी–11 प्रकाशक, श्री सरस्वती सरन.
105. विष्णु प्रकाश तिवारी; भारतीय चिंतन धारा, सं. 1994, भावना प्रकाशन, 126, पटपड़ गंज, दिल्ली–110091.
106. डॉ. देवराज; दर्शन धर्म–अध्यात्म और संस्कृति, चौथा सं. 2005, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड़, नयी दिल्ली–110003.
107. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002.
108. डॉ. शेर सिंह बिष्ट; वैष्णव धर्म सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धांत और कृष्ण भक्ति काव्य, सं. 1990, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली.
109. जगदीश्वर चतुर्वेदी; साहित्य का इतिहास दर्शन, प्रथम सं. 2013, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लि., 4697/3, 21ए अंसारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली–110002.
110. मंजु तंवर; संस्कृति और हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रथम सं. 2013, स्वराज प्रकाशन, 4648/1, अंसारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली–110002.
111. डॉ. मंगलदेव शास्त्री; भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिक धारा), पांचवा सं. 2005, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड़, नयी दिल्ली–110003.
112. शरदेन्दु; भारतीय संस्कृति के सामाजिक सोपान, सं. 2011, आर्य प्रकाशन मंड़ल, गाँधी नगर, दिल्ली–110031.
113. डॉ. सच्चिदानंद शुक्ल; भारतीय संस्कृति के विविध आयाम, सं. 2012, हिंदूलौजी बुक्स, दिल्ली.
114. डॉ. शिवकुमार मिश्र; साहित्य, इतिहास और संस्कृति, सं. 2009, वाणी प्रकाशन, दिल्ली.
115. डॉ. भारतेश कुमार मिश्र, डॉ. सच्चिदानंद त्रिपाठी; भारतीय दर्शन, सं. 2011, शिवांक प्रकाशन, दिल्ली.
116. पं. रघुवीर शर्मा; वैष्णव धर्म और दर्शन, सं. 1997, आभा प्रकाशन, दिल्ली–110006.

117. वियोगी हरि; हमारी परंपरा, सं. 2011, सस्ता साहित्य मंड़ल, 126, जीरो रोड़, इलाहाबाद–211003.
118. डॉ. राजेन्द्र पाण्डेय; भारत का सांस्कृतिक इतिहास, तृतीय सं. 2002, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ.
119. मैनेजर पाण्डेय; शब्द और कर्म, सं. 1997, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली–110002.
120. श्री नलिन विलोचन शर्मा; साहित्य का इतिहास–दर्शन, द्वितीय सं. 1997, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, सैदपुर विस्तार पथ, पटना–800004.
121. चंद्रशेखर पाण्डेय; सल्तनतकालीन उत्तरी भारत का सामाजिक एवं धार्मिक इतिहास, सं. 2000, मिश्रा ट्रेड़िग कॉरपोरेशन, टी 21ए, किला कालोनी, राजघाट, वाराणसी–221001.
122. हजारी प्रसाद द्विवेदी; सूर–साहित्य, तीसरा सं. 1989, तीसरी आवृति 2013, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002.
123. ब्रजेश्वर वर्मा; सूरदास, आठवां सं. 2008, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्ड़िंग, महात्मा गाँधी नगर, इलाहाबाद–1.
124. सं. हरबंसलाल शर्मा; सूरदास, दूसरा सं. 2011, राधाकृष्ण प्रकाशन, 7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली–110002.
125. सं. वाग्देव; सूर पदावली, प्रथम सं. 2011, ग्रंथ अकादमी,1659, पुराना दरियागंज, नई दिल्ली–110002.
126. रामफेर त्रिपाठी; सूरदास, प्रथम सं. 2002, उत्तर प्रदेश संस्थान, राजर्षि पुरुषोत्तम टंड़न हिंदी भवन, 6, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ.
127. डेजी वालिया; सूर काव्य में संगीत लालित्य, प्रथम सं. 1984, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002.
128. डॉ. वेद प्रकाश शास्त्री; सूर की मौलिकता, सं. 1984, सन्मार्ग प्रकाशन, 16 यू.बी., बैंग्लो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली–110007.
129. आद्याप्रसाद त्रिपाठी, सूर साहित्य में लोक संस्कृति, सं. 1967, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, इलाहाबाद.
130. डॉ. प्रेमशंकर शुक्ल, सूर तथा तुलसी काव्य में नारी भावना, सं. 1994, शेखर प्रकाशन, 108 चक, जीरो रोड़, इलाहाबाद.
131. डॉ. बलराज शर्मा, मध्यकालीन बोध के आधुनिक संदर्भ, सं. 1984, सन्मार्ग प्रकाशन, 16 यू.बी., बैंग्लो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली–110007.
132. हरिश्चंद्र मिश्र, भक्तिकालीन कृष्ण काव्य और मानवमूल्य, सं. 2005, स्वराज प्रकाशन, 4697/21ए, अंसारी रोड़, दरियागंज, दिल्ली–110002.

133. डॉ. संतराम वैश्य; सूर की सांस्कृतिक चेतना एवं उनका युग बोध, क्लासिकल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली.
134. डॉ. जगदीश भारद्वाज; कृष्ण लीला विमर्श, सं. 1987, नचिकेता प्रकाशन, 7/19ए, विजय नगर, दिल्ली–110009.
135. डॉ. सुरेंद्र कोहली; आधुनिक कृष्ण काव्य, सं. 1986, साहित्य संगम पब्लिकेशन्स, कच्ची छावनी, जम्मू.
136. डॉ. अब्बासअली के. ताई.; हिंदी काव्य में कृष्ण के विविध रूप, सं. 1991, शांति प्रकाशन, रोहतक, हरियाणा–124406.
137. डॉ. प्रीतम सिंघवी; हिंदी जैन साहित्य में कृष्ण का स्वरूप विकास, सं. 1992, पार्श्व प्रकाशन, निशापोल, झवेरीवाड़, रिलीफरोड़, अहमदाबाद–380001.
138. डॉ. जगदीश भारद्वाज; कृष्ण काव्य में लीला वर्णन, सं. 1987, नचिकेता प्रकाशन, 7/19ए, विजय नगर, दिल्ली–110009.
139. डॉ. शशि अग्रवाल; हिंदी कृष्णभक्ति–काव्य पर पुराणों का प्रभाव, सं. 1960, हिंदूस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद.
140. डॉ. श्याम नारायण पाण्डेय; ब्रजरासलीला : स्वरूप और विकास, सं. 1987, साहित्य रत्नालय, कानपुर.
141. के. भास्करन नायर; हिंदी और मलयालम में कृष्ण भक्ति काव्य, सं. 1960, राजपाल एण्ड़ सन्स, दिल्ली–110006.
142. डॉ. सुधांशु कुमार नायक; सूरदास और जगन्नाथ दास की भक्ति, सं. 2005, आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, गाजियाबाद–201102.
143. डॉ. ना. सुंदरम्; मीरा और आण्डाल का तुलनात्मक अध्ययन, सं. 1971, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, इलाहाबाद
144. डॉ. आर. सुमन लता; अष्टछाप तथा ताल्लपाक कवियों का तुलनात्मक कवियों का तुलनात्मक अध्ययन, सं. 1989, दक्षिणांचलीय साहित्य समिति, 405/7/1, गाँधी नगर, हैदराबाद–500380.
145. डॉ. श्रीमती नयनतारा तिवारी; भक्त कवियों में लोक मानस, सं. 1991, साहित्यवाणी, इलाहाबाद–211006.
146. डॉ. मायारानी टंड़न; अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन, सं. 1960, विद्यामंदिर प्रेस, लखनऊ.
147. डॉ. के. ए. जमुना; नालायिर दिव्य प्रबंधम् और सूरसागर में कृष्ण कथा का स्वरूप, सं. 1978, नाग प्रकाशन, दिल्ली–110007.
148. डॉ. मलिक मोहम्मद; आल्वार भक्तों का तमिल प्रबंधम् और हिंदी कृष्ण काव्य, सं. 1969, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा–2.

149. डॉ. मलिक मोहम्मद; वैष्णव भक्ति आंदोलन का अध्ययन, सं. 1971, राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली.
150. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, प्रथम सं. 2003, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002.
151. मु. वरदराजन; तमिल साहित्य का इतिहास, अनुवादकः एम.शेषन्, तमिल साहित्य का इतिहास, प्रथम सं. 1994, साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली–110001.
152. डॉ. एम.शेषन्; तमिल भक्ति आंदोलन, प्रथम सं. 2009, हिंदी प्रचार सभा, टी. नगर, चैन्नई–600017.
153. डॉ. राजम नटराजन पिल्लै; तमिल तथा हिंदी का वैष्णव भक्ति साहित्य, प्रथम सं. 2011, शुंभकर प्रकाशन, आर.के.वैद्य रोड़, दादर(पश्चिम), मुंबई–400028.
154. एस.एम.एल.लक्ष्मणन चेट्टियार; तमिलनाडु लोक संस्कृति और साहित्य, अनुवादः कृष्णगोपाल अग्रवाल, प्रथम सं. 1975, छठी आवृति 2014, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नेहरू भवन, 5–इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज–2, बसंत कुंज, नई दिल्ली–110070.
155. (संकलनकर्ता) पा. वेंकटाचारी; तिरुप्पावै, आण्डाल–गोदा देवी, प्रथम सं. 1996, श्री मारूति लेसर प्रिंटर्स,174, पीटर्स रोड़, चैन्नई–600014.
156. डॉ. अमर सिंह वधान; तमिल साहित्य और संस्कृति, प्रथम सं. 2006, अभिषेक प्रकाशन, दिल्ली.
157. डॉ. रविंद्र कुमार सेठ; तमिल वैष्णव कवि आल्वार, सं. 1986, साहित्य शोध संस्थान, नई दिल्ली–110005.
158. दशरथ राज, दक्खिनी साहित्य का इतिहास, सं. 1980, अपाला प्रकाशन, 17/284, छिलीईंट रोड़, आगरा–3.
159. टी.एम.पी. महादेवन; शंकराचार्य, अनुवादः सुमंगल प्रकाश, सं. 2011, , राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नेहरू भवन, 5–इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज–2, बसंत कुंज, नई दिल्ली–110070.
160. रामस्वरूप चतुर्वेदी; हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, प्रथम सं. 1986, तेइसवां सं. 2012.
161. डॉ. के. ए. नीलकंठ शास्त्री; दक्षिण भारत का इतिहास, अनुवादः डॉ वीरेंद्र वर्मा, नव सं. 2002, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना–800016.
162. रामचंद्र वर्मा; संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर, चतुर्दश सं. संवत् 2065 वि., नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी.

163. आचार्य रामचंद्र वर्मा, प्रमाणिक हिंदी कोश, संशोधन तथा परिवर्धनः डॉ बदरीनाथ कपूर, तृतीय सं. 1996, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद–1.
164. सिद्धेश्वरशास्त्री, भारतवर्षीय प्राचीन चरित्रकोश, चित्राव, भारतीय चरित्रकोष मण्डल, पूना–4.

English Books

1. M. Narasimhachary, Sri Ramanuja, first edition 2004, Sahitya Akademi, Ravindra Bhawan, 35, Ferozshah Road, New Delhi-110001.
2. Sisir kumar Das, A History of Indian Literature 500-1399, edition 2005, Sahitya Akademi, Ravindra Bhawan, 35, Ferozshah Road, New Delhi-110001.
3. Rohan Dalal, Hinduism: An Alphabetical Guide, edition 2011, Penguine Books India.
4. S.M.S Chari, Philosophy And Theistic Mysticism of the Alvars, edition 1997, Motilal Banarasidas Publishers Pvt. Ltd., Varanasi.
5. Omvedt, Gail, Buddhism in India : Challenging Brahmanism And Caste, edition 2003, Sage Publication, New Delhi-110044.

पत्रिका–

1. प्रतिमान, जनवरी–जून, 2014, वर्ष–2, खण्ड–2, अंक–1, भारतीय भाषा कार्यक्रम, विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस), 29, राजपुर रोड, दिल्ली–110054.
2. समुच्चय, संपादक–एम. वेंकटेश्वर, अंक–2, अंग्रेजी एवं विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, हैदराबाद–500007.
3. वागार्थ, संपादक : एकांत श्रीवास्तव, कुसुम खेमानी, भारतीय भाषा परिषद्, 36ए, शेक्सपियर सरणी, कोलकाता–700017, अंक 233, दिसम्बर 2014.

4. आलोचना, संपादक : अरुण कमल, अंक–47, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002.
5. कल्याण, गीता प्रेस गोरखपुर, संत विशेषांक, जनवरी 1955.
6. समकालीन भारतीय साहित्य, संपादक : गिरधर राठी, अंक–108, जुलाई–अगस्त 2003, रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली–110001.
7. पक्षधर, संपादक : विनोद तिवारी, अंक–1, जनवरी–अप्रैल 2008, बी–33/14–73, कोसलेश नगर, सुंदरपुर, वाराणसी –221005.
8. परिचय, संपादक : श्रीप्रकाश शुक्ल, अंक–9, दिसम्बर 2009, रोहित नगर, वाराणसी–221005.